मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 67 ● वर्ष 8, अंक 2 ● अप्रैल 2018 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

हमने पूँजीवाद को तबाह नहीं किया तो पूँजीवाद पृथ्वी को तबाह कर देगा 9

अन्तरराष्ट्रीय मज़दूर दिवस की ऐतिहासिक विरासत 13

दुनिया में सबसे अधिक बेरोज़गारों वाला देश बना भारत 16

सत्ता पर काबिज़ लुटेरों-हत्यारों-बलात्कारियों के गिरोह से देश को बचाना होगा!

संघी फासिस्टों के ख़िलाफ़ एकजुट हो!

यूँ तो पिछले कई वर्षों से भारतीय समाज एक भीषण सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक और नैतिक संकट से गुज़र रहा है, परन्तु अप्रैल के महीने में सुर्खियों में रही कुछ घटनाएँ इस ओर साफ़ इशारा कर रही हैं कि यह चतुर्दिक संकट अपनी पराकाष्ठा पर जा पहुँचा है। जहाँ एक ओर कठुआ और उन्नाव की बर्बर घटनाओं ने यह साबित किया कि फ़ासिस्ट दरिंदगी के सबसे वीभत्स रूप का सामना औरतों को करना पड़ रहा है वहीं दूसरी ओर न्यायपालिका द्वारा असीमानन्द जैसे भगवा आतंकी और माया कोडनानी जैसे नरसंहारकों को बाइज्जत बरी करने और जस्टिस लोया की संदिग्ध मौत की उच्चतम न्यायालय द्वारा जाँच तक कराने से इनकार करने के बाद भारत के पूँजीवादी लोकतंत्र का बचा-खुचा आखिरी स्तम्भ भी ज़मींदोज़ होता नज़र आया। कहने की ज़रूरत नहीं कि ये सब फ़ासीवाद के गहराते अँधेरे के ही लक्षण हैं। हालात चीख-चीख कर गवाही दे रहे हैंकि संकट के इस अँधेरे को संविधान, कानून और आधिकारिक संस्थाओं पर भरोसा टिकाने की बजाय जनबल के बूते ही चीरा जा सकता है।

कठुआ और उन्नाव में हैवानियत की इन्तेहा

'बहुत हुआ नारी पर वार---' और 'बेटी बचाओ---' जैसे नारे देकर सत्ता में आई केन्द्र की मोदी सरकार और महिलाओं के सम्मान की रक्षा के प्रति प्रतिबद्धता का दावा करने वाली उत्तर प्रदेश की योगी सरकार की कलई कठुआ और उन्नाव की घटना के बाद खुल गयी है। उन्नाव में भाजपा विधायक

सम्पादक मण्डल

कुलदीप सिंह सेंगर द्वारा किए गए गैंग रेप की शिकार 17 वर्षीय पीड़िता के न्याय न मिलने पर मुख्यमत्री आवास के सामने आत्मदाह की कोशिश करने पर मजबूर होने के बावजूद कोई सुनवाई होना तो दूर उल्टे उसके पिता की बेरहमी से पीट-पीट कर हत्या कर दी जाती है। कठुआ में तो 8 वर्षीय बच्ची के साथ पाशविकता की सारी हदें पार करने वाली दरिंदगी करने के बाद बलात्कारियों के पक्ष में रैली निकाली जाती है जिसमें जम्मू व कश्मीर सरकार के भाजपाई नेता सहित हिन्दू धर्म के तमाम ठेकेदार बेशर्मी से 'भारत माता की जय', 'जय श्रीराम' जैसे नारों और तिरंगे की आड़ में बलात्कार व हत्या के घिनौने अपराध को जायज़ ठहराने की कोशिश करते हैं। 'भारत माता की जय', 'जय श्रीराम' जैसे नारों और तिरंगे का इस्तेमाल दंगे कराने, विरोधियों को देशद्रोही करार देने और भ्रष्टाचार के आरोपियों को बचाने के लिए तो पहले से किया जाता रहा है, लेकिन अब तो इनका इस्तेमाल बलात्कार जैसे जघन्य कृत्य को तोपने और ढाँकने के लिए किया जा रहा है! यही नहीं, 'दैनिक जागरण' और 'ज़ी न्यूज़' जैसे संघ परिवार के भोंपुओं ने बेशर्मी की सारी हदें पार करते हुए बलात्कारियों के बचाव में इस झूठ का प्रचार किया कि कठुआ में बच्ची के साथ बलात्कार हुआ ही नहीं था।

अभी सारा देश कठुआ और उन्नाव की दिल दहला देने वाली घटनाओं पर क्षोभ और आक्रोश में सुलग ही रहा था कि सासाराम और सूरत सहित कई और जगहों से बलात्कार के बहुत जघन्य हमलों की ख़बरें भी सामने आयीं। इन घटनाओं के बाद जब ऐसा लग रहा था कि भारतीय समाज अपने पतन के रसातल में जा पहुँचा है उसी बीच इंदौर से खबर आई कि वहाँ 8 महीने की बच्ची के साथ दुष्कर्म करके उसकी हत्या कर दी गयी। कहने की ज़रूरत नहीं कि ये घटनाएँ तो स्त्रियों पर होने वाले हमलों का एक बहुत छोटा-सा हिस्सा हैं। ज़्यादातर घटनाएँ तो सामने ही नहीं आ पातीं।

2012 में निर्भया प्रकरण के बाद पूरे देश में गुस्से और शर्म की लहर फैल गयी थी, लेकिन उसके बावजूद आज की नंगी सच्चाई ये है कि बलात्कार, गैंगरेप

(पेज 8 पर जारी)

सरकारी आँकड़ों की हवाबाज़ी और अर्थव्यवस्था की ख़स्ताहाल असलियत

मुकेश असीम

पिछले वर्षों में बीजेपी सरकार के मंत्रियों-अफसरों और उनके नजदीकी अर्थशास्त्रियों द्वारा हर कुछ महीनों बाद यह दावा बारम्बार दोहराया जाता रहा है कि भारतीय अर्थव्यवस्था में बाजार माँग से अधिक उत्पादन का संकट अब हल होने लगा है और चारों ओर वृद्धि व विकास की 'हरी कोंपलें' निकलती नजर आने लगी हैं। पिछले दिनों एक बार फिर से यही बात रिजर्व बैंक और वित्त मंत्रालय द्वारा इस आधार पर कही गयी है कि उद्योगों की स्थापित क्षमता का प्रयोग, जो कई साल से औसतन 70-72% के दायरे के आस-पास चल रहा था, अब वह बढ़कर लगभग 74% हो गया है। उनके अनुसार इसका निष्कर्ष है कि कुल बाजार माँग में वृद्धि हो रही है जिससे औद्योगिक विकास होगा तथा नये रोज़गार सृजित होंगे।

लेकिन इसका विश्लेषण करते हुए हम यहाँ दिखायेंगे कि पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था के चारित्रिक अति-उत्पादन के संकट की तर्ज़ पर ही वर्तमान संकट का यह 'समाधान' भी स्थापित उद्योगों में बड़ी तादाद में दिवालियेपन द्वारा ही हो रहा है। उद्योगों के एक हिस्से के बन्द होकर कबाड़ में तब्दील होने और उत्पादक शक्ति के विनाश से बचे हुए उद्योगों को एक तात्कालिक राहत की साँस मिल जाती है। लेकिन उद्योगों को मिल रही यह राहत की साँस दिवालिया हुए उद्योगों के श्रमिकों को भारी तादाद में बेरोज़गारी, कंगाली और भूख की ज़िन्दगी की ओर धकेल देने की बड़ी कीमत चुकाकर प्राप्त हो रही है। अतः इससे बाजार में माँग के संकट का कोई समाधान होने वाला नहीं। यह राहत की साँस अस्थाई व बहुत संक्षिप्त समय के लिए है। उसके बाद यह और गहन, और जानलेवा विपत्ति को जन्म देगी।

पिछले कुछ वर्षों के इतिहास को देखें तो बाजार में माँग के संकट की वजह से उद्योगों के स्थापित क्षमता से कम पर काम कर पाने से उनकी लाभप्रदता में गिरावट हुई है। इससे बहुत सारे उद्योग उत्पादन क्षमता के विस्तार हेतु निवेश की गयी स्थाई पूँजी की बड़ी मात्रा पर ऋणदाताओं की मूल देनदारी ही नहीं उस पर ब्याज तक चुकाने में असमर्थ हो गए हैं। इसका नतीजा बैंकों द्वारा दिए गए कर्जों की वसूली में संकट और कर्ज के डूब जाने में सामने आया। लगभग 12-14 लाख करोड़ रुपये के बैंक कर्ज इस तरह दबाव में आ गए। लगभग 9 लाख करोड़ अभी एनपीए हैं जबकि बीजेपी सरकार के पहले साढ़े तीन वर्षों में ही करीब पौने तीन लाख के कर्ज बैंकों को बट्टे खाते में (राइट ऑफ़) डालने पड़े। इस संख्या में भी इसका ब्याज शामिल नहीं है। इससे बैंकों पर भी पूँजी का संकट पैदा हुआ और सरकार द्वारा आम मेहनतकश जनता पर बढ़ाये गए करों, डीजल-पेट्रोल-बिजली के दामों में वृद्धि, शिक्षा-स्वास्थ्य, आदि कल्याण कार्यक्रमों में खर्च से कटौती कर जुटाई गयी रकम से लाखों करोड़ रूपयों की पूँजी बैंकों को जीवित रखने के लिए उनमें डालनी पड़ी।

दिवालिया कानून

उद्योग और बैंकों दोनों में आये इस संकट से निपटने हेतु बीजेपी सरकार एक नया दिवालिया कानून लेकर आयी और उसके लिए नई अदालतें

(पेज 10 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

विदेशों में मज़दूरी कर रही भारतीय महिला मज़दूरों की हालत

यह पत्र हमें मज़दूर बिगुल की पाठक बिन्दर कौर ने भेजा है। बिन्दर कौर सिंगापुर में घरेलु नौकर के तौर पर काम करती हैं, पर मज़दूर बिगुल को व्हाटसएप्प के माध्यम से नियमित तौर पर पढ़ती हैं। तमाम सारे पढ़े-लिखे मज़दूर जो आज बेहद कम तनख़्वाहों पर अलग-अलग काम कर रहे हैं, राजनीतिक तौर पर बेहद सचेत हैं और समय-समय पर बिगुल को पत्र लिखते रहते हैं, फ़ोन करते रहते हैं। ऐसे में हम अन्य साथियों से भी अपील करते हैं कि वो मज़दूर बिगुल को पत्र लिखकर अपने जीवन के बारे में ज़रूर बतायें ताकि देशभर के मज़दूरों को पता चले कि जाति, धर्म, क्षेत्र से परे सभी मज़दूरों की माँगें और हालत एक ही है।

बिन्दर कौर का पत्र हम यहाँ बिना किसी सम्पादन के दे रहे हैं।

कोई कहता है इंगलिश में मेड,
कोई कहता हेलपर,
कोई वरकर तो कोई नौकरानी...
आप लोग हमें बस नाम देते हैं.....
हमारे घर के हालात क्या हैं,
आपको नहीं मालूम,
हमारी भाषा में यहाँ रहने को
बस मजबूरी का नाम देते हैं।

हमारा नाम बिन्दर कौर है, हमारी आयु 25 साल है। हम पंजाब के रहने वाले हैं। हमारे पास भारत में कोई काम नहीं था, इसलिए हम सिंगापुर में काम करने के लिए आये, घर का सारा काम, खाना बनाना आदि करने।

22 सितम्बर 2017 को हम सिंगापुर में आये। हम जैसे-जैसे लड़कियों को मिले, हमें पता चला कि वो कैसे रहती हैं, उनको क्या-क्या सहन करना पड़ता है, यहाँ पर छोटी-छोटी बात पर झगड़ा, गालियाँ सहना, आधा भूखा रहना, घर में क़ैद रहना और हमेशा डर के नीचे दबे रहना आम बात है।

एक दिन जब हम ऐजंसी में गये तो हम क्या देखते हैं कि एक लड़की घर से भागकर आयी हुई है। पूछने पर पता चला कि जिस घर में वो काम करती थी, वह घरवाले उसे बहुत परेशान करते थे। जब वो लोग घर में होते थे, तो उससे काम करवाते, जब घर से जाते तो उसे बाँधकर जाते थे, यहाँ तक कि ग़लती होने पर उसे मारते थे, थप्पड या जूते से, उसके बाल पकडकर भी मारते थे। उसका बाहर तो आना-जाना बन्द था ही, उसका फ़ोन तक भी तोड़ दिया गया था। जब एक दिन वे लोग उसे बाँधकर नहीं गये तो वह खिड़की से भाग आयी। उसका पासपोर्ट भी उसके पास नहीं था।

रविवार को सबको छुटटी होती है। हमने रविवार की छुटटी ली, तो बहुत-सी लड़कियों से बात करने का मौक़ा मिला। उनमें से एक लड़की ने बताया कि मुझसे तीन-तीन बार एक दिन में घर साफ़ करवाते हैं। एक और लड़की ने बताया कि एक बार मुझसे कपड़ा जल गया ग़लती से, तो मैडम ने मेरी पीठ पर आईरन बॉक्स लगा दिया। एक और लड़की मिली थी, ऐजंसी में, उसका नाम मनजिन्दर था और वह पंजाब के जलन्धर शहर की थी, वह एमए पास थी, खेलती भी थी, खेलों में उसे गोल्ड मैडल भी मिल चुका है, मजबूरी में सिंगापुर आ गयी, उसने बताया कि, दीदी मुझे ये लोग हमेशा गाली निकाल कर बात करते हैं, कोई ग़लती हो तो बोलते हैं - अनपढ़-गँवार कहीं की, पता नहीं कहाँ से आयी है, पूरा दिन एक काम को 2-2 या 3-3 बार करवाते हैं, छुटटी के पैसे भी नहीं देते, 6 महीने हो गये एक भी छुटटी नहीं दी, बाहर जाते हैं तो लॉक करके जाते हैं।

बेशक ख़ूबसूरत होंगी,
पत्थर और शीशे की इमारतें
लेकिन क़ैद हैं यहाँ
माऐं, बहनें, बेटियाँ...
और क़ैद हैं उनकी आँखों के सपने।

आपकी साथी ,

बिन्दर कौर,
सिंगापुर

एससी/एसटी क़ानून में "बदलाव" - जनहितों में बने क़ानूनों को कमज़ोर या ख़त्म करने का गुजरात मॉडल

(पेज 7 से आगे)

अभूतपूर्व स्तर पर है। खेती में मशीनों के आने के साथ बड़े पैमाने पर मज़दूर बाहर आ रहे हैं, वहीं पूँजीवादी आर्थिक संकट के कारण नये रोज़गार उद्योगों में भी नहीं पैदा हो रहे। ऐसे ही समय में देशभर में साम्प्रदायिक और जातिगत तनाव बढ़ाया जा रहा है, आम जनता के हक़-अधिकार छीने जा रहे हैं। एससी/एसटी क़ानून 1989 में बदलाव भी पहले से ही दमन-उत्पीड़न झेल रही दलित आबादी को ओर अँधेरे में धकेलेगा। हमें इसके विरुद्ध एकजुट होना पड़ेगा। ये ज़िम्मेदारी आज देश के मज़दूरों और नौजवानों के कन्धे पर है कि वो इसको जल्द से जल्द समझ लें। हमें हिटलर के समय के एक कवि पास्टर निमोलर के शब्दों को याद करना पड़ेगा। अगर वो आज यहाँ होते तो यही कहते :

पहले वो आये दलितों के लिए,
मैं कुछ नहीं बोला क्योंकि मैं दलित नहीं था।
फिर वो आये मुसलमानों के लिए,
मैं कुछ नहीं बोला क्योंकि मैं मुसलमान भी नहीं था
फिर वो आये मज़दूरों के लिए,
मैं कुछ नहीं बोला, मैं मज़दूर भी नहीं था
और फिर वो आये मेरे लिए
तब तक कोई नहीं बचा था जो मेरे लिए बोलता।

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" - **लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

पूँजीपतियों के पास दर्जनों अख़बार और टीवी चैनल हैं। मज़दूरों के पास है उनकी आवाज़ 'मज़दूर बिगुल'! इसे हर मज़दूर के पास पहुँचाने में हमारा साथ दें।

मज़दूर बिगुल के लिए अपने कारख़ाने, दफ़्तर या बस्ती की रिपोर्टें, लेख, पत्र या सुझाव आप इन तरीक़ों से भेज सकते हैं:
डाक से भेजने का पता: **मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**
ईमेल से भेजने का पता: **bigulakhbar@gmail.com**

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमश: उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर नि:शुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब नहीं मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0076200
पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता : वार्षिक : 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन : 2000 रुपये

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :
फ़ोन : 0522-4108495, 8853093555, 9936650658
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853093555
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति - 5/- रुपये वार्षिक - 70/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता - 2000/- रुपये

स्त्रियों पर बढ़ते हमलों के ख़िलाफ़ देशभर में प्रदर्शन

किसी भी रूप में बलात्कार का समर्थन करने वालों के लिए इस समाज में कोई जगह नहीं होनी चाहिए!

उन्नाव और कठुआ की दरिंदगी और देश भर में महिलाओं के ख़िलाफ़ बढ़ती यौन हिंसा और उसके दोषियों को भाजपा-संघ द्वारा संरक्षण दिये जाने के विरोध में पूरे देश में लोगों का आक्रोश फूट पड़ा है। देश के हर राज्य में और लगभग सभी छोटे-बड़े शहरों में इन घटनाओं के विरोध में प्रदर्शन हुए। **दिल्ली, केरल, इलाहाबाद, लखनऊ, मुंबई सहित देश में कई जगहों पर तो आम लोगों ने अपनी कालोनियों के आसपास ऐसे पोस्टर या बैनर लगा दिये कि यहाँ पर बच्चियाँ रहती हैं, यहाँ भाजपा और संघ के लोगों का आना मना है।**

स्त्री मुक्ति लीग, स्त्री मज़दूर संगठन, नौजवान भारत सभा और दिशा छात्र संगठन ने अपने सभी कार्यक्षेत्रों में विभिन्न संगठनों के साथ साझा विरोध प्रदर्शनों में भी हिस्सेदारी की और इस मुद्दे पर अलग से भी लोगों के बीच लगातार अभियान चलाया।

लखनऊ में स्त्री मुक्ति लीग की पहल पर 10 अप्रैल को जीपीओ पर विरोध प्रदर्शन हुआ जिसमें विभिन्न संगठनों के लोगों ने भाग लिया। इसके अलावा शहर के विभिन्न इलाकों में पोस्टर प्रदर्शनी और पर्चे के माध्यम से यह संदेश लोगों तक पहुँचाया जा रहा है कि देश भर में महिलाओं के ख़िलाफ़ बढ़ती हिंसा की जड़ों की शिनाख़्त कर फासिस्ट दरिंदगी को नेस्तनाबूद करने की तैयारी के लिए लोगों को एकजुट होना होगा। इस मुहिम के तहत कपूरथला, हज़रतगंज, खदरा, लोहिया पार्क, रेलवे ऑफिस, डालीगंज आदि जगहों पर प्रदर्शनी लगाई गई। उन्नाव और कठुआ के मुद्दे की मीडिया कवरेज की वजह से लोगों में समस्या की मूल वजह जानने की जिज्ञासा दिखी, हालाँकि लोगों में इस भ्रम का भी असर दिखा कि सख़्त कानून बना देने से समस्या का समाधान हो जायेगा। जैसा कि उम्मीद थी, कई जगहों पर ऐसे हिन्दुत्ववादियों से भी सामना हो जो बेशर्मी से बलात्कार की इन घटनाओं को हिन्दू-मुस्लिम रंग देने की कोशिश कर रहे थे लेकिन आम लोगों ने खुद ही बलात्कारियों का समर्थन करते संघियों को आड़े हाथों लिया और वे भाग खड़े हुए। शहर के विभिन्न संगठनों की ओर से महिलाओं पर हिंसा के विरोध में 16 से लेकर 24 अप्रैल तक चलाये साझा अभियान में भी स्त्री मुक्ति लीग ने हिस्सा लिया जिसके तहत 16 अप्रैल को हुए विरोध मार्च में विधानसभा के सामने स्थित भाजपा कार्यालय के सामने पहुँचते ही मार्च में शामिल स्त्रियों का गुस्सा फूट पड़ा और भाजपा तथा संघ के खिलाफ़ देर तक उग्र नारेबाज़ी की गयी।

दिल्ली के संसद मार्ग पर कठुआ और उन्नाव के दोषियों को सज़ा दिलाने और बढ़ते स्त्री विरोधी अपराधों के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाते हुए सैकड़ों की संख्या में आम नागरिक, छात्र, युवा इकट्ठे हुए। स्त्री मुक्ति लीग, नौजवान भारत सभा और दिशा छात्र संगठन ने भी इस प्रदर्शन में हिस्सेदारी की और कहा कि कठुआ और उन्नाव में हुए बलात्कारों की बर्बरता और इन अपराधों के दोषियों को सत्ता में बैठे नेता-मंत्रियों द्वारा बचाने की कवायद बेहद ही शर्मनाक है। मोदी सरकार द्वारा 'न्यू इंडिया' का जो गुब्बारा फुलाया जा रहा है उसकी सच्चाई को वास्तव में बढ़ते हुए स्त्री विरोधी, दलित और अल्पसंख्यक विरोधी, आम मेहनतकश अवाम और मज़दूर विरोधी घटनाओं से बखूबी समझा जा सकता है। इस प्रदर्शन के माध्यम से प्रदर्शनकारियों ने बलात्कारियों को सख़्त सज़ा देने की माँग को उठाया। उन्होंने कहा कि इस व्यवस्था में जहाँ हर चीज़ उपभोग का एक माल बना दी गयी है वहाँ स्त्रियों को भी उपभोग की वस्तु से अलग और कुछ नहीं समझ जाता। पितृसत्तात्मक मानसिकता को पूँजीवाद वह उपजाऊ ज़मीन प्रदान करता है जिसमे स्त्रियों के ख़िलाफ़ बर्बर से बर्बर अपराध आम घटनाएँ बन जाते हैं। ऐसे में चाहे किसी भी पार्टी की सरकार आये, चाहे कागजों पर जितने भी क़ानून बना लिए जाए, स्त्रियों की सुरक्षा एक बड़ा सवाल रहता है। ऐसे में बढ़ते स्त्री विरोधी अपराधों का जवाब देने के लिए हर न्यायप्रिय छात्र, युवा, नागरिक को एकजुट होना होगा। और इस समाज के

पोर-पोर में पैठी पितृसत्तामक सोच जिसे पूँजीवादी व्यवस्था फलने-फूलने में मदद कर रही है जड़ से उखाड़ फेंकना होगा।

दिल्ली की शाहाबाद डेरी में दिल्ली घरेलू कामगार यूनियन, स्त्री मुक्ति लीग, स्त्री मज़दूर संगठन और नौजवान भारत सभा द्वारा बलात्कारों के विरोध में अभियान चलाया गया। दिल्ली घरेलू कामगार युनियन की बीना ने कहा कि स्त्री विरोधी बर्बर अपराधों को अंजाम देने वाले लोग आज 'जय श्री राम' के नारों और तिरंगे झंडे की आड़ में खुद को बचाने में लगे हैं। इतना ही नहीं भाजपा से लेकर कांग्रेस जैसी तमाम चुनावबाज़ पार्टियों के नेता मंत्री खुलेआम बलात्कारियों के समर्थन और पक्ष में खड़े हुए नज़र आ रहे हैं। इस प्रदर्शन के दौरान व्यापक रूप से पर्चा वितरण करते हुए आम मेहनतकश कामगार महिलाओं ने भी बात रखी।

16 अप्रैल को **लुधियाना ज़िला** के इंसाफ़पसन्द जनवादी जनसंगठनों द्वारा कठुआ, उन्नाव, सूरत काण्ड सहित देश में स्त्रियों के खिलाफ़ लगातार बढ़ते जा रहे घिनौने अपराधों के खिलाफ़ रोष प्रदर्शन किया व डीसी लुधियाना को भारत सरकार के नाम माँगपत्र सौंपा। संगठनों ने शहीद करतार सिंह सराभा पार्क, भाई बाला चौक से लघु सचिवालय तक पैदल मार्च भी किया। भारत सरकार को भेजे माँगपत्र के ज़रिये माँग की गयी कि उन्नाव व कठुआ काण्ड के पीड़ितों को इंसाफ़ दिया जाये। दोषियों को सख़्त से सख़्त सज़ाएँ दी जायें, उन्नाव काण्ड के मुख्य दोषी कुलदीप सेंगर की विधानसभा सदस्यता ख़ारिज़ की जाये, उपरोक्त मामलों में दोषियों को सरकारी सरपरस्ती देने वालों को भी सख़्त सज़ाएँ दी जायें, कठुआ काण्ड के मामले में आरोपियों के पक्ष में साम्प्रदायिक प्रदर्शन करने वाले भाजपा विधायकों के खिलाफ़ सख़्त कार्रवाई की जाये, उपरोक्त मामलों सहित स्त्रियों के खिलाफ़ बलात्कार जैसे घिनौने अपराधों के मामले में फ़ास्ट ट्रेक अदालतों में निपटाए जायें, अपराधियों को सरकारी सरपरस्ती देना बन्द हो।

संगठनों का कहना है कि आरएसएस, भाजपा व अन्य हिन्दुत्ववादी संगठनों द्वारा इन हमलों को भी साम्प्रदायिक रंगत दी जा रही है। उत्तर प्रदेश में कुलदीप सेंगर और उसके सहयोगियों द्वारा सामूहिक बलात्कार जैसे घिनौने अपराध को अंजाम देने के बाद भी अपराधी लम्बे समय तक आज़ाद घूमते रहे हैं, पीड़िता और उसके परिवार को डराते-धमकाते रहे हैं, पीड़िता के पिता को जिस ढंग से पुलिस हिरासत में क़त्ल किया गया उससे यह स्पष्ट है कि अपराधियों को सरकार, पुलिस, प्रशासन की सरपरस्ती हासिल है। संगठनों का यह भी मानना है कि हिन्दुत्वी साम्प्रदायिक फासीवादी आरएसएस के उभार, केन्द्र व विभिन्न राज्यों में भाजपा सरकारें बनने के इस दौर में स्त्रियों के खिलाफ़ अपराध पहले किसी भी समय से कहीं अधिक भयानक हद तक बढ़ चुके हैं।

संगठनों ने स्त्रियों के खिलाफ़ लगातार बढ़ते जा रहे अपराधों, अपराधियों को सरकारी सरपरस्ती और अन्य जन मुद्दों पर जनता को संगठित संघर्ष के लिए आगे आने का आह्वान किया है।

रोष प्रदर्शन में बिगुल मज़दूर दस्ता, कारख़ाना मज़दूर यूनियन, टेक्सटाइल-हौज़री कामगार यूनियन, नौजवान भारत सभा, जमहूरी अधिकार सभा, मोल्डर एण्ड स्टील वर्कर्ज यूनियन, मज़दूर अधिकार संघर्ष अभियान, सीआईटीयू, तर्कशील सोसाइटी, शहीद भगत सिंह नौजवान सभा, इंक़लाबी केन्द्र पंजाब, रेलवे पेंशनर्ज़ वेलफ़ेयर एसोसिएशन, लोक मंच पंजाब, पंजाब लोक सभ्याचारक मंच, लोक मोर्चा पंजाब, लोक एकता संगठन, इंक़लाबी नौजवान विद्यार्थी मंच, अज़ाद हिन्द निर्माण मज़दूर यूनियन आदि संगठन शामिल थे।

इलाहाबाद, गोरखपुर, देहरादून, गाज़ियाबाद और वाराणसी में भी स्त्री मुक्ति लीग और नौजवान भारत सभा ने इन घटनाओं के विरोध में अभियान चलाया और कई जगहों पर विरोध प्रदर्शन किये।

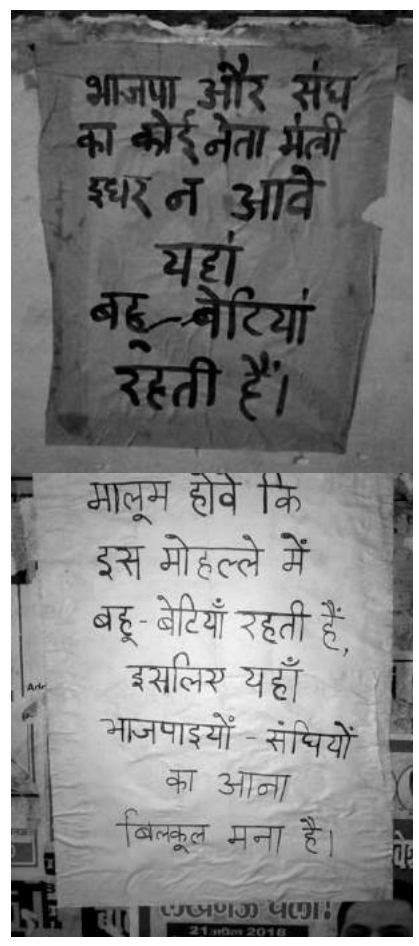

शाहाबाद डेयरी के मज़दूरों की ज़िन्दगी के नारकीय हालात

"प्रत्येक बड़े शहर में एक या एक से ज़्यादा मलिन बस्तियाँ होती हैं, जहाँ मज़दूर वर्ग ठुँसा हुआ ज़िन्दगी बिताता है। यह सच है कि ग़रीबी अक़सर अमीरों के महलों की आस-पास की नज़र न आने वाली गलियों में बसती है, लेकिन, आमतौर पर इसके लिए ख़ुशहाल वर्गों की नज़रों से दूर एक अलग जगह दे दी गयी है, जहाँ यह संघर्ष में उलझी रह सके। ये मलिन बस्तियाँ इंग्लैण्ड के प्रत्येक बड़े शहर में लगभग एक ही तरह से व्यवस्थित हैं – शहर के सबसे घटिया हिस्सों में बने सबसे घटिया मकान; अक़सर लम्बी क़तारों में बनी एक या दुमंज़िली झुग्गियाँ, शायद तहख़ानों को भी रहने के लिए इस्तेमाल में लाते हुए, हमेशा बेतरतीब ढंग से बनी हुईं। दो या तीन कमरों और एक रसोई के ये मकान, लन्दन के कुछ हिस्सों को छोड़कर, पूरे इंग्लैण्ड में मज़दूर वर्ग की सामान्य रिहायश हैं। गलियाँ अक़सर कच्ची, ऊबड़-खाबड़, गन्दी और कचरे से भरी रहती है, जहाँ सीवर या गटर तो नहीं होता है लेकिन सड़ान्ध मारते रुके हुए पानी के गड्ढों की कोई कमी नहीं होती है। इसके अलावा, साफ़ हवा की आवाजाही में पूरे इलाक़े के घटिया और बेतरतीब निर्माण की वजह से रुकावट आती है, और चूँकि एक बेहद छोटे हिस्से में बहुत से इंसान ठुँसे हुए रहते हैं, यहाँ पाये जाने वाले वातावरण की कल्पना आसानी से की जा सकती है। और, अच्छे मौसम में गलियों का इस्तेमाल सुखाने वाली जगह के तौर पर होता है जहाँ गीले कपड़ों से लदे तार एक घर से दूसरे घर तक लटकते रहते हैं।"

ऊपर की पंक्तियों में अगर इंग्लैण्ड का ज़िक्र न हो तो दिल्ली की शाहाबाद डेयरी में एक बार भी जाने वाला व्यक्ति आसानी से यह मान सकता है कि यह विवरण यहीं का है। लेकिन यह उद्धरण मज़दूरों के महान शिक्षक और नेता फ्रेडरिक एंगेल्स की प्रसिद्ध पुस्तक 'इंग्लैण्ड में मज़दूर वर्ग की दशा' से लिया गया है। यह पुस्तक एंगेल्स ने आज से लगभग 175 साल पहले इंग्लैण्ड के मज़दूरों के हालात के बारे में लिखी थी। पूँजीवाद के उदय के साथ ही पैदा हुए मज़दूर वर्ग की ज़िन्दगी के हालात सभी देशों में लगभग एक जैसे ही दयनीय रहे हैं, सिर्फ़ वक़्त का फ़र्क़ हो सकता है। भारत जैसे पिछड़े पूँजीवादी देश में मज़दूर वर्ग की ज़िन्दगी के हालात और भी बदतर है।

शाहाबाद डेयरी दिल्ली के बाहरी इलाक़े में स्थित एक बस्ती है जहाँ बहुत बड़ी तादाद में मज़दूर आबादी रहती है। यहाँ के मज़दूर आस-पास के औद्योगिक इलाक़ों जैसे शाहाबाद डेयरी, बवाना, नरेला, बादली, जहाँगीर पुरी आदि में काम करते हैं। बस्ती की महिलाएँ कारखानों में काम करने के अलावा आस-पास की मध्यवर्गीय कॉलोनियों में घरेलू कामगार के रूप में काम करती हैं। जैसा कि भारत की हर मज़दूर बस्ती का हाल है, शाहाबाद डेयरी में भी ज़रूरी बुनियादी सुविधाएँ नहीं के बराबर हैं। जिस आबादी की वजह से शहरों की चकाचौंध क़ायम रहती है, वह ख़ुद एक अँधेरी दुनिया में रहने के लिए मजबूर कर दी गयी है।

शाहाबाद डेयरी की सबसे ग़रीब मज़दूर आबादी बस्ती के पीछे के निचले हिस्से में रहने को मजबूर है, जहाँ बड़े-बड़े झीलनुमा गड्ढों में पानी सड़ता रहता है और जिसमें से एक नाला निकलता है। इन गड्ढों के चारों ओर तथा नाले के दोनों तरफ़ मज़दूरों ने किसी तरह जोड़-तोड़ करके अपनी झुग्गियाँ बनायी हुई हैं। बारिश में यहाँ क्या हालत होती है, इसका अन्दाज़ा इस बात से आसानी से लगाया जा सकता है कि नाले का गन्दा पानी घरों में घुस आता है, घरों से बाहर निकल2ना मुहाल हो जाता है, और तरह-तरह की बीमारियाँ फैल जाती हैं। ग़ौरतलब है कि दिल्ली में सबसे ज़्यादा डेंगू के मरीजों की संख्या वाले इलाक़ों में शाहाबाद डेरी भी है।

शाहाबाद डेरी की कुल आबादी लगभग एक लाख है, लेकिन अभी दो साल पहले तक यहाँ कोई सार्वजनिक शौचालय नहीं था जिसकी वजह से लोगों को पास के ख़ाली सुनसान मैदान में खुले में ही शौच जाना पड़ता था। महिलाओं-बच्चियों को अक़सर ना सिर्फ़ छेड़खानी का सामना करना पड़ता था बल्कि बलात्कार जैसी वीभत्स घटनाएँ यहाँ बहुत सामान्य-सी बात थी। शौचालय न होने की वजह से परेशानी का आलम यह था कि माएँ अपने बच्चों को रात में सोते वक़्त खाना या पानी तक नहीं देती थी ताकि रात में शौच जाने से बचा जा सके। नौजवान भारत सभा के नेतृत्व में जब बस्ती के मज़दूरों ने शौचालय बनवाने के लिए जुझारू संघर्ष चलाया तब जाकर सरकार ने सार्वजनिक शौचालय बनवाये, लेकिन ये भी कुल आबादी को देखते हुए नाकाफ़ी हैं।

यहाँ 12वीं कक्षा तक का सिर्फ़ एक सरकारी स्कूल था जिसे 2016 में तब बन्द कर दिया गया था जब यहाँ एक बच्चे की करण्ट लगने से मौत हो गयी थी। और अभी तक उसको दोबारा शुरू नहीं किया गया है। इस स्कूल के बच्चे तीन किलोमीटर से भी ज़्यादा दूर स्थित पुल प्रह्लादपुर के एक स्कूल में ट्रांसफ़र कर दिये गये। इसकी वजह से बहुत से बच्चों ख़ासकर लड़कियों का तो स्कूल जाना ही छूट गया। इसके अलावा यहाँ तीन प्राइमरी स्कूल हैं जिनके हाल इतने बेहाल हैं कि यहाँ एक क्लास में 70-70, 80-80 बच्चे पढ़ते हैं। न तो पानी की कोई सुविधा है और न ही टॉयलेट साफ़-सुथरे हैं। इसके चलते सभी बच्चों को और ख़ासकर छात्राओं को इस वजह से बहुत परेशानी उठानी पड़ती है।

पीने के पानी की बात करे तो हालात और भी भयावह नज़र आते हैं। यहाँ पानी की पाइपलाइन नहीं बिछायी गयी है, इसलिए पीने के पानी की सप्लाई टैंकरों के ज़रिये होती है। आबादी के हिसाब से जितने टैंकर आने चाहिए उसके आधे से भी कम आते हैं। केजरीवाल सरकार के हवाई दावों की सच्चाई यहाँ पता चलती है। केजरीवाल ने चुनाव से पहले दिल्ली की जनता से वादा किया था कि प्रत्येक घर को प्रतिदिन 700 लीटर पानी मिलेगा और जहाँ पानी की लाइन नहीं है वहाँ पाइपलाइन बिछायी जायेगी। हक़ीकत यह है कि हर घर में लोगों ने दो-तीन प्लास्टिक के 20-20 लीटर वाले जार रखे हुए हैं और पानी का टैंकर आने पर वे इन जारों में पानी भरते हैं। ग़ौरतलब है कि टैंकर द्वारा भी लोगों को पानी प्रतिदिन नहीं मुहैय्या कराया जाता है, बल्कि दो दिन में एक बार ही टैंकर आता है। इससे साफ़ है कि हर घर में प्रतिदिन सिर्फ़ 20 लीटर पीने का पानी ही सरकार के द्वारा उपलब्ध कराया जा रहा है।

इस वज़ह से आये दिन पानी को लेकर लोगों के बीच झगडे होते रहते हैं। अभी कुछ दिन पहले ही दिल्ली में वज़ीरपुर के मज़दूर इलाक़े में पानी के टैंकर से पानी पहले लेने के मुद्दे पर झगडा हो गया जिसमें एक बुजुर्ग और उसके बेटे की मौत हो गयी। आपको मध्य वर्ग के बहुत से लोग कहते मिल जायेंगे कि मज़दूर तो होते ही झगड़ालू हैं, बात-बात पर लड़ाई-झगड़ा करने को उतारू रहते हैं। लेकिन अगर वे अपने एसी घरों से बाहर आकर मज़दूरों की ज़िन्दगी के हालात का जायजा लेंगे तो उन्हें पता चल जायेगा कि कैसे यह मुनाफ़ाख़ोर व्यवस्था मज़दूरों को इतनी संघर्षपूर्ण ज़िन्दगी जीने को मजबूर कर देती है कि उन्हें पानी जैसी बुनियादी ज़रूरत के लिए भी लड़ना पड़ता है। लेकिन जिन लोगों के घरों में पाइपलाइन से पानी आता हो और जो उस पानी का इस्तेमाल पीने के लिए ही नहीं बल्कि अपनी गाड़ियाँ धोने और अपने पालतू कुत्तों को नहलाने के लिए भी करते हैं, उनसे इस बात की उम्मीद नहीं की जा सकती।

अन्त में, मज़दूरों की ज़िन्दगी के ये भयावह हालात सिर्फ़ शाहाबाद डेयरी में नहीं हैं, बल्कि पूरे भारत में एक जैसे हैं। मुनाफ़े पर टिकी इस आदमखोर पूँजीवादी व्यवस्था में इसके अलावा और कोई उम्मीद नहीं की जा सकती।

– बिगुल संवाददाता

'उत्तराखण्ड के मज़दूरों का माँग-पत्रक आन्दोलन' की शुरुआत

लेनिन के जन्मदिवस (22 अप्रैल) के अवसर पर उत्तराखण्ड के मज़दूरों का माँग-पत्रक आन्दोलन की शुरुआत बिगुल मज़दूर दस्ता व स्त्री मज़दूर संगठन द्वारा की गई| हरिद्वार के रोशनाबाद में माँग-पत्रक से सम्बन्धित प्रचार अभियान चलाते हुए पर्चा वितरण किया गया और मज़दूरों के हक़ों-अधिकारों के बारे में तफ़सील से बातचीत की गयी|

उत्तराखण्ड के मज़दूरों के 24 सूत्रीय माँगों में से एक न्यूनतम वेतन के सवाल पर बात रखते हुए वक्ताओं ने कहा कि, उत्तराखण्ड में न्यूनतम वेतन आस-पास के राज्यों (दिल्ली,हरियाणा,उत्तर प्रदेश) के न्यूनतम वेतन से बहुत ही कम है,जबकि जीवन-जीने की मूलभूत सुविधओं के मूल्यों व मंहगाई आदि में कोई अंतर नहीं है| न्यूनतम वेतन का सवाल व्यक्ति के गरिमामय जीवन और भरण-पोषण से जुड़ा हुआ है| ऐसे में उत्तराखण्ड के मज़दूरों का न्यूनतम वेतन कम से कम दिल्ली राज्य सरकार के न्यूनतम वेतन के बराबर होना चाहिए| हालांकि इस वेतन पर भी दिल्ली हाईकोर्ट ने सख्त टिप्पणी की थी कि, ''क्या आप 16000/- रुपये में अपने परिवार का गुज़र-बसर कर सकते हैं?'' और दिल्ली के पूंजीपतियों की वेतन न बढाने की याचिका को खारिज करने के साथ इस तर्क को को भी खारिज किया था कि,''न्यूनतम वेतन बढ़ जाने से निवेश में कमी आएगी और उत्पादन घटेगा|''

अभी उत्तराखण्ड में 251/- रूपये दैनिक और मासिक महिला व पुरुष मज़दूरों को अलग-अलग 5500/- से 8000/-रूपये तक देते हैं| एक ही प्रकृति का काम करने वाले स्त्री-पुरुष की मजदूरी में भी काफ़ी अंतर है| माँग-पत्रक में इस असमानता को खत्म कर समान कार्य के लिए समान वेतन देने के कानून को सख्ती से लागू करने की माँग की गयी है|

बीस-सूत्री माँगपत्रक की मुख्य माँगें ये हैं:

1. उत्तराखण्ड के मज़दूरों का न्यूनतम वेतन, दैनिक 512 रुपये और मासिक 16,182 रुपये किया जाये।

2. ठेका प्रथा को ख़त्म किया जाये। नियमित प्रकृति के कामों में लगे सभी ठेका मज़दूरों को नियमित किया जाये।

3. एक ही प्रकृति के काम का स्त्री और पुरुष मज़दूरों को समान वेतन दिया जाये।

4. काम के घण्टे आठ किये जायें और ओवरटाइम का डबल रेट से भुगतान किया जाये।

5. सभी मज़दूरों को पहचान-पत्र, वेतन स्लिप, ई.एस.आई., पी.एफ़. की सुविधा दी जाये।

6. सिडकुल औद्योगिक क्षेत्र में 90 दिन तक काम कर चुके सभी मज़दूरों का सिडकुल की तरफ़ से पहचान-पत्र बनाया जाये।

7. मज़दूरों के लिए आधुनिक सुविधायुक्त अस्पताल, उनके बच्चों के लिए स्कूल और सस्ते राशन की दुकानें खोली जायें।

"गुजरात मॉडल" का ख़ूनी चेहरा: सूरत का टेक्सटाइल उद्योग या मज़दूरों का क़त्लगाह!

गुजरात का सूरत शहर टेक्सटाइल उद्योग का एक बड़ा केन्द्र है। यहाँ टेक्सटाइल उद्योग में कई हज़ार मज़दूर काम करते हैं। देश भर के औद्योगिक इलाकों की तरह यहाँ भी मज़दूर बेहद असुरक्षित स्थितियों में काम करते हैं। हाल में जारी एक शोध अध्ययन ने सूरत के टेक्सटाइल उद्योग में 2012-15 के बीच 84 घातक दुर्घटनाओं का ब्यौरा जमा किया है जिनमें कम से कम 114 मज़दूरों की मौत हो गयी। औद्योगिक सुरक्षा एवं स्वास्थ्य निदेशालय से आरटीआई के ज़रिए मिली जानकारियों के अनुसार इस दौरान 375 से अधिक मज़दूरों को गम्भीर चोटें भी आयीं। रिपोर्ट यह भी बताती है कि ज़्यादातर कारखानों में ईएसआई योजनाओं को ठीक से लागू नहीं किया जाता जिसके कारण बहुत से बीमा वाले मज़दूर भी विकलांग होने पर मिलने वाली देखभाल और सहायता से वंचित रह जाते हैं। ज़्यादातर मज़दूर तो ईएसआई की सुविधा से ही वंचित हैं।

गुजरात के अलंग बन्दरगाह के बारे में तो अब बहुत लोग जान चुके हैं जहाँ पुराने जहाज़ों को तोड़ने में लगे मज़दूर आये दिन जानलेवा दुर्घटनाओं और बीमारियों का शिकार होते रहते हैं। अब 'सूरत के टेक्सटाइल उद्योग में मज़दूरों के हालात' शीर्षक इस रिपोर्ट से गुजरात के एक और प्रमुख उद्योग की असली तस्वीर सामने आ रही है। वडोदरा में स्थित 'पीपुल्स ट्रेनिंग एंड रिसर्च सेंटर' (पीटीआरसी) के जगदीश पटेल द्वारा तैयार की गयी यह रिपोर्ट बताती है कि ये आँकड़े हालात की पूरी तस्वीर सामने नहीं लाते क्योंकि बहुत से कारखाने तो रजिस्टर्ड ही नहीं हैं और उनके आँकड़े सरकारी विभागों के पास होते ही नहीं हैं। इस संस्था ने अखबारों की कतरनों की जाँच से भी पता लगाया कि सूरत में टेक्सटाइल उद्योग में 2012-15 के बीच 121 मज़दूरों की मौत हुई और 126 गम्भीर रूप से घायल हो गये। लेकिन रिपोर्ट यह भी कहती है कि काम पर होने वाली चोटों या मौतों की ज़्यादातर खबरें अखबारों या जनता तक पहुँचती ही नहीं क्योंकि बहुतेरे कारखाने रजिस्टर्ड नहीं हैं और उनमें काम करने वाले मज़दूरों का भी कोई लेखा-जोखा नहीं रहता।

यह कोई नयी बात नहीं है। किसी भी औद्योगिक इलाक़े में काम करने वाला मज़दूर या मज़दूर कार्यकर्ता इस बात को जानता है। कुछ साल पहले दिल्ली के बादली औद्योगिक क्षेत्र में बिगुल मज़दूर दस्ता द्वारा आरटीआई के तहत उद्योग विभाग, श्रम विभाग और दिल्ली पुलिस से यह जानकारी माँगी गयी कि पिछले तीन महीनों में यहाँ के कारखानों में कितनी दुर्घटनाएँ हुईं और उनमें मरने या घायल होने वाले मज़दूरों की संख्या कितनी है। उद्योग विभाग और श्रम विभाग के पास तो कोई जानकारी ही नहीं थी। दिल्ली पुलिस ने बताया कि उस दौरान बादली के कारखानों में किसी मज़दूर की मृत्यु नहीं हुई और चार मज़दूर घायल हुए। जबकि बिगुल मज़दूर दस्ता ने खुद उन्हीं तीन महीनों में कम से कम 6 मज़दूरों की मौत नाम-पते के साथ दर्ज की थी।

रिपोर्ट कहती है कि साल दर साल इतनी बड़ी संख्या में दुर्घटनाएँ होती रहती हैं फिर भी सरकारी विभाग पूरी तरह आँखें मूँदे रहते हैं। रिपोर्ट के अनुसार सूरत में 1991-95 के बीच 100 घातक दुर्घटनाएँ हुईं। फिर 2007 और 2008 में क्रमश: 46 और 36 दुर्घटनाएँ दर्ज की गयीं। लेकिन इन्हें रोकने के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाये गये। उल्टे नियम-क़ायदे को ताक पर रखकर काम करने वाले कारखानों की संख्या बढ़ती ही चली गयी।

रिपोर्ट के अनुसार ये आँकड़े सूरत के टेक्सटाइल कारखानों में पेशागत स्वास्थ्य और सुरक्षा के हालात की बेहद चिन्ताजनक तस्वीर पेश करते हैं। दुर्घटनाओं के कारणों पर नज़र डालें तो 2012 और 2015 के बीच हुई 121 घातक दुर्घटनाओं में से 30 जलने के कारण हुईं जबकि 27 बिजली का करण्ट लगने से हुईं। 23 दुर्घटनाओं का कारण ''दो सतहों के बीच कुचलना'' बताया गया है। कारखानों की भीतरी तस्वीर से वाकिफ़ कोई भी व्यक्ति इसका मतलब समझ सकता है। इसके अलावा बहुत सी मौतें दम घुटने, ऊँचाई से गिरने, आग और विस्फोट, मशीन में फँसने, गैस आदि कारणों से हुई हैं। ज़्यादातर दुर्घटनाएँ जानलेवा क्यों बन जाती हैं इसका कारण कारखानों की हालत से जुड़ा हुआ है। रिपोर्ट में दिये गये एक उदाहरण से इसे समझा जा सकता है। सूरत के सूर्यपुर इंडस्ट्रियल एस्टेट में अश्विनी कुमार रोड पर एक पावरलूम यूनिट में 3 अक्टूबर 2015 को सुबह 11.45 बजे आग लगी। दुर्घटना के दौरान ज़्यादातर मज़दूर तो बाहर आ गये लेकिन नीला नायक और कृष्णा लिम्जा नाम के दो मज़दूर दूसरी मंजिल पर फँसे रह गये। फायर ब्रिगेड ने जब तक दोनों को निकाला तब तक महिला मज़दूर की दम घुटने से मौत हो चुकी थी। रिपोर्ट बताती है, ''आग दूसरी मंज़िल पर शुरू हुई और तीसरी मंज़िल तक फैल गयी। मशीनें इस तरह रखी गयी थीं कि दो मशीनों के बीच में बिल्कुल जगह नहीं थी और चलने के रास्ते बिल्कुल सँकरे हो गये थे। रास्तों में ही कच्चा माल और तैयार माल के बण्डल भी ढेर लगाकर रखे गये थे। कारखाने में 200 मज़दूर थे। ग्राउण्ड फ्लोर के मज़दूर तो बाहर निकल गये लेकिन दूसरी और तीसरी मंजिलों के मज़दूर फँसे रह गये।''

रिपोर्ट यह भी बताती है कि ज़्यादातर मामलों में मरने या घायल होने वाले मज़दूरों को मुआवज़ा या तो मिलता ही नहीं या फिर बहुत कम मिलता है। रिपोर्ट में अजय राजू यादव (18 साल) का उदाहरण दिया गया है जिसके साथ सूरत की एक इम्ब्रॉयडरी यूनिट में काम करते समय दुर्घटना हुई। मशीन में कपड़ा लगाते समय प्रेस मशीन के रोल में उसका बायाँ हाथ फँस गया। उसकी तीन उँगलियाँ काटनी पड़ीं और चौथी बेजान हो चुकी है। रिपोर्ट कहती है: ''मेडिकल विशेषज्ञ ने उसकी विकलांगता 47 प्रतिशत बतायी लेकिन उसे कोई मुआवज़ा नहीं मिला। यूनिट ईएसआई क़ानून के तहत रजिस्टर्ड थी लेकिन उस मज़दूर को ईएसआई कार्ड नहीं दिया गया था।'' एक मज़दूर यूनियन की ओर से दो साल तक चली क़ानूनी कार्रवाई के बाद स्थानीय कोर्ट ने अजय को 2,88,685 रुपये मुआवज़ा और 86,605 रुपये जुर्माना देने का आदेश दिया। इसके बाद मालिक ने उस मज़दूर को काम से निकाल दिया। पिछले पाँच साल से उस मामले की सुनवाई अभी जारी है और अजय को एक भी पैसा मुआवज़ा नहीं मिला है। सूरत की मज़दूर बस्तियों में आपको ऐसे बहुत से मामलों के बारे में सुनने को मिलेगा।

– बिगुल संवाददाता

दिल्ली के मौत के कारख़ानों का कहर जारी : अब नवादा की क्रॉकरी फैक्ट्री में आग लगने से कम से कम 3 मज़दूरों की मौत

17 अप्रैल की रात को दक्षिणी दिल्ली के नवादा औद्योगिक क्षेत्र में एक फैक्ट्री में शॉर्टसर्किट से आग लगने की वजह से 3 मज़दूरों की मौत हो गयी। जब फैक्ट्री के अंदर आग भड़की तो मज़दूरों ने अपनी जान बचाने के लिए फैक्ट्री से बाहर निकलने की कोशिश की मगर फैक्ट्री का दरवाज़ा बाहर से बंद होने के कारण वो अंदर ही घुट-घुट कर मर गये।

गौर करने वाली बात है कि सरकारी आँकड़ों के मुताबिक मरने वाले मज़दूरों की संख्या 3 बतायी जा रही है लेकिन मज़दूरों का कहना है कि फैक्ट्री में रात की शिफ्ट में काम करने 7 मज़दूर गये थे जिनमें से बाकी 4 अब लापता हैं। मरने वालों में से दो मज़दूर बिजली प्रेस ऑपरेटर थे। यह आग रात करीब 10 बजे के आस-पास लगी। देर रात को फैक्टरियों में अवैध रूप से काम कराने के लिए फैक्ट्री मालिक कारख़ानों का दरवाज़ा बाहर से बंद करवा देते हैं। यह प्रथा ग़ैर-क़ानूनी होने के बावजूद भी बेहद आम है।

अपने साथी मज़दूरों की फैक्ट्री के मालिक की लापरवाही के कारण हुई मौत के ख़िलाफ़ मज़दूरों में बेहद गुस्सा था जिसके चलते मज़दूरों ने हड़ताल कर दी और अपने साथियों के लिए इन्साफ़ की माँग उठाते हुए फैक्टरियों के बाहर प्रदर्शन कर रहे हैं। नवादा औद्योगिक क्षेत्र में ऐसी कई फैक्टरियाँ है और सभी की कहानी एक जैसी है। मज़दूरों के आक्रोश से घबराकर पहले तो कुछ फैक्ट्री मालिक उन्हें अपनी हड़ताल वापस लेने का दबाव बनाने उनके पास गए। लेकिन जब मज़दूरों ने उनकी बात मानने से इंकार कर दिया तो उन्हें डराने-धमकाने लगे और एक मज़दूर के साथ मार-पीट की। जिसके बाद मज़दूरों में रोष और भी बढ़ गया। एक तरफ उनके 3 साथियों की हत्या की जाती है तो दूसरी तरफ न्याय की माँग उठाने और श्रम क़ानून लागू करने की माँग करने पर उनके साथ मालिक पुलिस-प्रशासन से बेख़ौफ़ होकर मार-पीट करते हैं।

यह रिपोर्ट लिखे जाने तक नवादा औद्योगिक क्षेत्र के सैकड़ों मज़दूर हड़ताल पर हैं और अपने अधिकारों के लिए संघर्षरत हैं। ऐसी किसी भी घटना के बाद मुवाअज़ा देने से बचने के लिए अक्सर फैक्ट्री मालिक मज़दूरों को पहचान पत्र तक नहीं देते। दुर्घटना के नाम पर लगने वाली ऐसी आग सिर्फ़ और सिर्फ़ मालिक की लापरवाही का नतीजा होती है ऐसे में जब मज़दूर हड़ताल कर अपने लिए इन्साफ़ की माँग कर रहे हैं तो दिल्ली की सरकार घोड़े बेच कर सो रही है। और वो भी तब जब जनवरी से लेकर अप्रैल तक यह देश की राजधानी दिल्ली में हुई ऐसी चौथी बड़ी घटना है। बवाना में लगी भीषण आग के बाद सरकार ने कई वादे तो किये थे लेकिन उनके वादे किस कदर खोखले हैं यह बवाना के बाद सुल्तानपुरी की जूता फैक्ट्री, नरेला की फैक्ट्री और अब नवादा में लगी आग से साफ़ हो गया है। इन सभी दुर्घटनाओं में सरकारी आँकड़ों के मुताबिक 28 मज़दूरों की मौत हो चुकी है। क्या राजधानी के मेहनतकशों की ज़िन्दगी की कीमत सरकार की नज़र में कुछ भी नहीं है। क्यों बार-बार ऐसी दुर्घटनाएँ होने पर भी सत्ता में बैठे नेताओं की नींद नहीं टूट रही है?

दिल्ली के तमाम औद्योगिक क्षेत्रों में मज़दूरों के हालात बेहद खराब हैं। सभी श्रम क़ानूनों को ताक पर रख कर मज़दूरों से अमानवीय परिस्थितियों में काम करवाया जाता है और उन्हें जानबूझ कर मौत के मुँह में धकेला जाता है। ज़्यादातर मज़दूरों के पास कोई पहचान पत्र तक नहीं है और न ही इलाके की किसी भी फैक्ट्री में न्यूनतम वेतन दिया जाता है। बिगुल मज़दूर दस्ता के कार्यकर्ता नवादा के मज़दूरों की इस हड़ताल में शुरू से शिरकत कर रहे हैं। बिगुल के साथी अनंत ने बताया कि अब तक इस आग में जल कर मरने वाले मज़दूरों के फैक्ट्री मालिक को गिरफ़्तार तक नहीं किया गया है। उल्टा जब से मज़दूर फैक्टरियों के बाहर इकठ्ठा हो रहे हैं तब से वहाँ अधिक संख्या में पुलिसबल तैनात किया जा रहा है और मज़दूरों की हड़ताल को तोड़ने का प्रयास किया जा रहा है। लगभग 500 मज़दूर अभी भी फैक्टरियों के बाहर है और काम में सुरक्षा और मुआवज़े के अधिकार के लिए लड़ रहे हैं।

– बिगुल संवाददाता

"रामराज्य" में राजस्थान में पसरी भयंकर बेरोज़गारी!

मुनीश मैन्दोला

राजस्थान में बेरोज़गारी की हालत पूरे देश की तरह ही भयानक है। राजस्थान में पिछले 7 सालों में मात्र 2.55 लाख सरकारी नौकरियाँ निकलीं और इनके लिए 1 करोड़ 8 लाख 23 हज़ार आवेदन किये गये यानी कि हर पद के लिए 44 अभ्यर्थियों के बीच मुकाबला हुआ! राजस्थान में हाल ही में रीट की परीक्षा हुई जिसमें केवल 54 हज़ार पद थे (शुरू में केवल 34 हज़ार पद थे जो कि चुनावी साल होने के कारण चालाकी से बढ़ाये गये) और लगभग 10 लाख नौजवानों ने परीक्षा दी। लेकिन उसमें भी भर्ती अटक गयी क्योंकि राजस्थान सरकार की काहिली के कारण पेपर आउट हो गया। क्लर्क ग्रेड परीक्षा में 6 लाख से अधिक उम्मीदवारों ने परीक्षा दी थी। पुलिस कांस्टेबल 2017 की परीक्षा में 5500 पद थे जिसके लिए 17 लाख आवेदन आये यानी कि एक पद के लिए 310 लोगों ने आवेदन किया। विधानसभा में चपरासी भर्ती परीक्षा के लिए 18 पदों के लिए 18 हज़ार आवेदन आये यानी कि एक पद के लिए 1 हज़ार लोगों ने फ़ार्म भरा। सब इंस्पेक्टर 2016 की परीक्षा में 300 पदों के लिए तीन लाख लोगों ने आवेदन किया था। विश्वविद्यालय सहायक 2015 में हुई भर्ती के लिए महज़ 33 हज़ार पदों के लिए 10 लाख बेरोज़गारों ने आवेदन किया था। आरटेट 2011 में दोनों स्तरों पर क़रीब 10 लाख 79 हज़ार परीक्षार्थी शामिल हुए। भाजपा सरकार ने इस साल चुनावी वर्ष होने के कारण जनता को बेवक़ूफ़ बनाने के लिए घोषणाओं के पकोड़े तलते हुए बताया कि वह 2018 में एक लाख नौकरियाँ देगी किन्तु हक़ीक़त यह है कि राज्य में अब तक लम्बित 93,000 नौकरियों पर ही इन लोगों ने नियुक्ति नहीं दी हैं और ये पद अब तक लम्बित हैं। पिछले एक दशक से कांग्रेस और भाजपा की पूँजीवादी सरकारों द्वारा सरकारी नौकरियों का निकाला जाना लगभग बन्द किया जा चुका है। प्रदेश में पूर्व सरकार के कार्यकाल में निकली 76 हज़ार भर्तियाँ कब तक लम्बित हैं! जाँच-पड़ताल में सामने आया कि पिछले 5-6 सालों से कई भर्तियॉ लम्बित हैं और पद ख़ाली पड़े हुए हैं। एलडीसी भर्ती 2013 के 7500 पद ख़ाली हैं। पूर्ववर्ती कांग्रेस सरकार में साल 2013 में निकली ये नियुक्तियाँ आज भी लम्बित हैं। वर्तमान सरकार के कार्यकाल में ही 18 हज़ार भर्तियाँ लम्बित हैं। इसके अलावा पूँजीवादी सरकारें यह बदमाशी भी करती हैं कि भर्ती की घोषणा करके ऐन समय पर भर्ती बन्द करवा देती हैं। राजस्थान अधीनस्थ मन्त्रालयिक एवं सेवा चयन बोर्ड की ओर से कम्प्यूटर ऑपरेटर प्रोग्रामिंग असिस्टेण्ट के 402 पदों के लिए एक लाख 19 हज़ार फॉर्म भरे गये लेकिन परीक्षा की निर्धारित तिथि से 2 दिन पहले भर्ती निरस्त कर दी गयी। पीडब्ल्यूडी में कनिष्ठ अभियन्ता के पद पर 600 पदों पर नियुक्तियाँ निकलीं जिसमें 1 लाख से अधिक आवेदन आये पर परीक्षा तिथि से 4 दिन पहले इसे भी निरस्त कर दिया गया। इसके अलावा कई मामलों में जानबूझकर नियुक्तियाँ नहीं दी जा रही हैं। राजस्थान लोक सेवा आयोग ने 2013 में कनिष्ठ लिपिक के पदों पर 6000 पदों की भर्ती निकाली जिसमें परीक्षा के बाद ज़िला आवण्टन हुआ लेकिन अभी तक नियुक्ति नहीं दी गयी है। पंचायत राज विभाग में कनिष्ठ लिपिक के पदों पर 9200 पदों पर 2013 की भर्ती अटकी हुई है। राजस्थान लोक सेवा आयोग के तहत कई हज़ार पदों पर भर्ती अटकी हुई है।

इसके अलावा राजस्थान सरकार {आरपीएससी (RPSC), राजस्थान अधीनस्थ और मन्त्रालयिक सेवा चयन बोर्ड (RSMSSB), पंचायती विभाग आदि} समय पर सही तरीक़े से परीक्षा नहीं कराने के लिए कुख्यात है। राजस्थान का हर युवा जानता है कि अक़सर इनके पेपर सैटर द्वारा बनाये गये प्रश्नपत्रों पर हाईकोर्ट में रिट लगती रहती है और भर्ती अटक जाती है। 2013 की एलडीसी (LDC), जूनियर अकाउण्टैण्ट की भर्ती अब तक अटकी हुई है!! कई बार प्रश्नपत्र आउट हो जाते हैं। इसलिए उक्त संस्थाओं की जवाबदेही तय की जानी चाहिए, पुराने पेपर सैटरों को हटाकर पारदर्शिता के साथ परीक्षा करवाते हुए, प्रश्नपत्र एनसीईआरटी (NCERT) की पाठ्य पुस्तकों के हिसाब से बनवाये जाने चाहिए, ताकि हर साल प्रश्नों के उत्तर को लेकर अनावश्यक विवाद ना पैदा हो व भर्तियाँ कोर्ट में ना अटकें। आज जैसे समय में नौजवानों की एक मुख्य माँग तो यही बनती है कि तमाम रुकी हुई भर्तियाँ तुरन्त भरी जायें, नये पद सृजित किये, और हर साल लगभग 15 लाख सरकारी नौकरियाँ दी जायें जो कि वसुन्धरा सरकार का वादा भी था। इसके अलावा क्योंकि राजस्थान में कई-कई साल तक भर्ती नहीं निकली है इसलिए आयु सीमा को भी 35 से बढ़ाकर 40 किया जाना चाहिए। उधर कांग्रेस की जनविरोधी नीतियों को आगे बढ़ाते हुए ये सरकार भी शिक्षा, स्वास्थ्य, रोडवेज़ आदि का सारा काम ठेके पर दे रही है। आँगनबाड़ी कर्मचारी, आशा वर्कर आदि सब ठेके पर हैं। मसलन राजस्थान में सरकारी स्कूलों को ख़त्म करके उनको "पीपीपी" मोड के नाम पर निजी पूँजीवादी लुटेरों को दिया जा रहा है। शिक्षा में, रोडवेज़ में, अस्पतालों आदि में सारा काम सरकार ठेके पर दे रही है जिससे बेतहाशा महँगाई बढ़ रही है और ये बुनियादी मूलभूत सुविधाएँ जनता की पहुँच से दूर होती जा रही हैं।

इसलिए एक ओर आज के समय में हमें समान शिक्षा-व्यवस्था और गाँव-शहर में रोज़गार की गारण्टी के लिए लड़ना होगा तो दूसरी ओर हमें नियमित किस्म के काम में ठेका प्रथा खत्म करवाने के लिए भी लड़ना होगा। हमें भारत सरकार पर जनदबाव बनाकर ठेका मज़दूरी को पूरी तरह समाप्त करवाने के लिए लड़ना होगा। भारत सरकार ने 1970 के ठेका मज़दूरी (उन्मूलन व विनियमन) अधिनियम में वायदा भी किया था कि वो ठेका प्रथा ख़त्म करेगी पर उल्टे ठेकाकरण बढ़ता गया। श्रम का ठेकाकरण पूरी तरह बन्द होना चाहिए क्योंकि यह मज़दूरों को अरक्षित बनाता है, उन्हें संगठित होने की क्षमता से वंचित करता है, उनकी मज़दूरी को कम करता है, उन्हें गुलामी जैसी कार्य-स्थितियों में धकेलता है और रोज़गार की एक शर्त भी पूरा नहीं करता : न यह रोज़मर्रा के काम की गारण्टी करता है और न किसी प्रकार की आर्थिक-सामाजिक सुरक्षा देता है। यह मज़दूर वर्ग को आर्थिक और राजनीतिक तौर पर कमजोर करता है और उनसे लड़ने की ताक़त छीनता है। इसलिए ठेका प्रथा को समाप्त करना बेरोज़गार नौजवानों और मज़दूरों की भी एक प्रमुख राजनीतिक माँग बनती है। एक और बात हमें आपस में समझनी होगी कि मौजूदा तमाम चुनावी पार्टियों का मक़सद ही आम जनता को ठगना है। इसलिए हमें इस या उस चुनावी मदारी की पूँछ पकड़ने की बजाय क्रान्तिकारी जनान्दोलनों के द्वारा सरकार पर अपनी माँगों के लिए दवाब बनाना चाहिए। धर्म-जाति-आरक्षण-मन्दिर-मस्जिद-गाय वग़ैरह के नाम पर किये जा रहे बँटवारे की राजनीति को समझकर हमें आपस में फौलादी एकजुटता कायम करके सरकारी अन्याय और पूँजीवादी अन्धेरगर्दी के ख़िलाफ़ आवाज़ उठानी होगी।

'स्मृति संकल्प यात्रा, उत्तराखण्ड' में गूँजा नारा : भगतसिंह को याद करेंगे – फासिस्टों को नहीं सहेंगे!

जिस देश का इतिहास नहीं होता, उसका कोई भविष्य भी नहीं हो सकता और जो पीढ़ी अपने इतिहास व परम्परा को नहीं जानती वो अपना भविष्य व आदर्श भी नहीं गढ़ सकती।

अपने देश के क्रान्तिकारी आन्दोलन की विरासत व परम्परा से परिचित कराने, शहीद क्रान्तिकारियों के सपनों, विचारों, लक्ष्यों और आदर्शों की याददिहानी के मक़सद से उत्तराखण्ड राज्य के विभिन्न ज़िलों व क़स्बों में नौजवान भारत सभा, स्त्री मुक्ति लीग व बिगुल मज़दूर दस्ता द्वारा 'स्मृति संकल्प यात्रा' निकाली गयी। 'स्मृति संकल्प यात्रा, उत्तराखण्ड' चन्द्रशेखर आज़ाद के शहादत दिवस (27 फ़रवरी) से शुरू होकर भगतसिंह, सुखदेव व राजगुरु के शहादत दिवस (23 मार्च) तक चलायी गयी।

तीन चरणों में चलने वाली इस यात्रा का पहला चरण गढ़वाल क्षेत्र की घाटी और तराई क्षेत्र में चला। दूसरा चरण गढ़वाल के पहाड़ी क्षेत्र में चलाया गया और तीसरे चरण में कुमाऊँ के पहाड़ी व तराई क्षेत्र में चलाने के बाद देहरादून में 'स्मृति संकल्प सभा' के साथ इस यात्रा का समापन किया गया। इस पूरी यात्रा के दौरान व्यापक पर्चा वितरण, नुक्कड़ सभा, गोष्ठी, पुस्तक-पोस्टर प्रदर्शनी व फ़िल्म स्कीनिंग आदि की गयी।

पहले चरण की शुरुआत देहरादून में 27 फ़रवरी को 'भारतीय मेहनतकश जनता की क्रान्तिकारी चेतना के प्रतीक चन्द्रशेखर आज़ाद और आज का समय' विचार-गोष्ठी से की गयी। इसके बाद 9 मार्च तक यह यात्रा देहरादून, हरिद्वार, रुड़की, ऋषिकेश के विभिन्न इलाक़ों में केन्द्रित रही। 7-8 मार्च को 'अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस' के अवसर पर एमकेपी कॉलेज, देहरादून में स्त्री मुक्ति से सम्बन्धित पोस्टर प्रदर्शनी लगायी गयी और जब्बार पटेल की फ़िल्म 'सुबह' की स्कीनिंग की गयी।

यात्रा का दूसरा चरण 10-14 मार्च तक चला। इस दौरान श्रीनगर और उसके आस-पास के इलाक़ों में व्यापक पर्चा वितरण करते हुए नुक्कड़ सभाएँ की गयीं। 14 मार्च को डोईवाला के डिग्री कॉलेज में छात्रों के बीच सम्पर्क एवं व्यापक पर्चा वितरण के साथ दूसरे चरण की यात्रा का अन्तिम पड़ाव पूरा हुआ।

यात्रा का तीसरा चरण 15 मार्च से 22 मार्च तक कुँमाऊँ रीज़न के रामनगर, कालाढूँगी, हल्द्वानी, नैनीतान, अल्मोड़ा, पिथौरागढ़, खटीमा, रुद्रपुर और काशीपुर से होते हुए देहरादून में 'स्मृति संकल्प सभा' के साथ समाप्त हुआ। 'स्मृति संकल्प सभा' में मौजूद नौजवानों, नागरिकों व बुद्धिजीवियों ने मशाल के समक्ष शपथ ली कि साम्प्रदायिक फासीवादी ताक़तों द्वारा देश को जाति, धर्म, नस्ल, रंग, भाषा व राष्ट्रीयता के आधार पर बाँटने के ख़ूनी मंसूबों को कामयाब नहीं होने देंगे। देश में दमित, शोषित-उत्पीड़ित दलितों, स्त्रियों, अल्पसंख्यकों पर होने वाले अत्याचार-दमन को बर्दाश्त नहीं करेंगे। मेहनतकश जनता की क्रान्तिकारी एकजुटता को बनाये रखने और संगठित करने की हरसम्भव कोशिश करेंगे। देशी-विदेशी पूँजी की लूट और अन्याय-उत्पीड़न की बुनियाद पर क़ायम सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक ढाँचे के बरक्स समता, न्याय और मानवीय गरिमा की बुनियाद पर एक नये समाज के निर्माण के लिए जारी संघर्ष में एक सच्चे इंक़लाबी सिपाही की भूमिका निभायेंगे।

यात्रा के दौरान नुक्कड़ सभाओं में वक्ताओं ने कहा कि आज़ादी के सात दशकों के बाद भी आज मेहनतकश जनता की स्थिति लगातार बद से बदतर होती गयी है। शिक्षा, स्वास्थ्य, रोज़गार, भोजन व आवास जैसे बुनियादी अधिकार भी लगातार छिनते गये हैं। जनता की नुमाइन्दगी करने का दावा करने वाली सभी चुनावी पार्टियों का चाल-चेहरा व चरित्र भी बेनकाब हो चुका है। जनता की माला जपने वाली ये पार्टियाँ पूँजीपतियों व बहुराष्ट्रीय निगमों की सेवा-चाकरी में अपना ईमान तक गिरवी रखने में कोई गुरेज नहीं करती हैं। कॉरपोरेटों की लूट और शोषण को जारी रखने और सुगम बनाने के लिए देश की पुलिस-फ़ौज-नौकरशाही व न्यायपालिका भी अपना काम बख़ूबी निभा रही हैं। जन-विरोधी नीतियों, दमन, शोषण से होने वाले असन्तोष से जनता का ध्यान भटकाने के लिए आज तमाम साम्प्रदायिक फासीवादी ताक़तें पूरे देश में काम कर रही हैं। इनका एक ही मक़सद है कि इस देश के ग़रीब मेहनतकशों को जाति-धर्म-सम्प्रदाय में बाँटकर पूँजी की सेवा की जाये। इसके लिए ये ताक़तें तमाम धार्मिक प्रतीकों का इस्तेमाल कर रही हैं और छद्म राष्ट्रवाद के नारों से नौजवानों-मेहनतकशों को भ्रमित कर रही हैं। हमें इनके षड्यन्त्रों को पहचानकर इनके नापाक इरादों का भण्डाफोड़ करना होगा। इन ताक़तों से लड़कर ही इस देश के नौजवान-मेहनतकश क्रान्तिकारी परिवर्तन के संघर्ष को अपने असली मुक़ाम तक पहुँचा सकते हैं।

इन फासिस्ट गुण्डा-गिरोहों का सामना यात्रा के दौरान भी हुआ। यात्रा के तीसरे चरण में पिथौरागढ़ प्रवास के दौरान पिथौरागढ़ के डिग्री कॉलेज में भगतसिंह और क्रान्तिकारी आन्दोलन पर पोस्टर प्रदर्शनी लगायी गयी थी। इस प्रदर्शनी को देखते ही संघी लम्पटों का गिरोह कॉलेज के प्रशासनिक दल-बल को साथ लेकर पहुँच गया। आते ही यह गिरोह हल्ला-हंगामा करने लगा कि, "लाल रंग को कैम्पस में नहीं रहने देंगे"। इस पर वहाँ के तमाम छात्रों ने कहा कि "लाल रंग नहीं तो भगवा भी नहीं"। काफ़ी बहस-मुबाहसे और छात्रों के विरोध के बाद कॉलेज का प्रशासनिक अमला बैकफुट पर आ गया। संघी गिरोहों को भी छात्रों की दृढ़ता देखकर वहाँ से खिसक लेना ही मुनासिब लगा। इसके बाद कॉलेज में ही भगतसिंह पर आधारित फ़िल्म की स्कीनिंग की गयी। दरअसल इन भगवाधारियों को दिक्कत लाल रंग से नहीं बल्कि विचार, तर्कणा और वैज्ञानिकता से है। ये फासिस्ट देश के क्रान्तिकारी आन्दोलन की विरासत और क्रान्तिकारियों को याद किये जाने से इसलिए भी डरते हैं, क्योंकि ये अच्छी तरह जानते हैं कि आम छात्रों-नौजवानों और मेहनतकशों को इनके असली एजेण्डे व आज़ादी की लड़ाई से इनकी ग़द्दारी का जब पता चलेगा, तब इनका क्या हश्र होगा। इसलिए ये कभी नहीं चाहते कि जनता अपने वास्तविक इतिहास और क्रान्तिकारी संघर्षों की विरासत से परिचित हो।

पूरी यात्रा के दौरान उत्तराखण्ड के नागरिकों, बुद्धिजीवियों और छात्रों-नौजवानों का बहुत ही सहयोग और साथ रहा। जहाँ भी यात्रा टोली गयी, लोगों ने रुकवाने और कार्यक्रम की जगहें मुहैया कराने में बहुत मदद की। नुक्कड़ सभाओं के दौरान भी लोगों ने इस पूरे अभियान को बहुत ही सराहा और कहा कि आज इस तरह के अभियानों व क्रान्तिकारी विकल्प को खड़ा करने की बहुत ही सख़्त ज़रूरत है।

– बिगुल संवाददाता

सुप्रीम कोर्ट द्वारा एससी/एसटी क़ानून में "बदलाव" - जनहितों में बने क़ानूनों को कमज़ोर या ख़त्म करने का गुजरात मॉडल

सत्यनारायण
(अखिल भारतीय जाति विरोधी मंच, महाराष्ट्र)

न्यारपालिका जब किसी अत्यन्त महत्वपूर्ण मुद्दे पर निर्णय सुनाती है तो उसके राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक कारण समझना बेहद ज़रूरी हो जाता है। बीती 20 मार्च को सुप्रीम कोर्ट द्वारा एससी/एसटी एक्ट पर भी एक ऐसा ही फ़ैसला सुनाया गया। सुप्रीम कोर्ट ने एक केस की सुनवाई के दौरान कहा कि एससी/एसटी एक्ट का दुरुपयोग होता है और ऐसे में भविष्य में एफ़आईआर तभी दर्ज की जा सकेगी, जब उसकी प्रारम्भिक जाँच वरिष्ठ/ पुलिस अधिकारी कर लेगा। साथ ही कोर्ट द्वारा जारी दिशा-निर्देशों के बाद अब एससी/एसटी एक्ट के तहत दर्ज मामलों में तत्काल गिरफ़्तारी पर रोक लगा दी गयी है और साथ ही अग्रिम जमानत पर रोक भी हटा दी गयी है। देशभर में दलित विरोधी जातिगत नफ़रत व हिंसा का लम्बा इतिहास रहा है व इस फ़ैसले के कुछ ही दिन बाद 29 मार्च के दिन गुजरात में एक दलित की हत्या सिर्फ़ इसलिए कर दी गयी कि वो घोड़ा रखता था। एससी/एसटी एक्ट के बावजूद भी देश में हर घण्टे दलितों के खिलाफ़ 5 से ज़्यादा हमले दर्ज होते हैं; हर दिन दो दलितों की हत्या कर दी जाती है; अगर दलित महिलाओं की बात की जाये तो उनकी स्थिति तो और भी भयानक है। प्रतिदिन औसतन 6 स्त्रियाँ बलात्कार का शिकार होती हैं। पिछले दस सालों 2007-2017 में दलित विरोधी अपराधों में 66 प्रतिशत बढ़ोत्तरी हुई है, 2016 में 48,000 से ज़्यादा मामले दर्ज हुए हैं।

आप ख़ुद ही देखिये, क़ानूनों का कितना "दुरुपयोग" होता है

यहाँ दी गयी तालिका से भी यह स्पष्ट है कि दलितों के विरुद्ध हुए बर्बर से बर्बर हत्याकाण्डों में भी सज़ाएँ बिल्कुल नहीं हुईं साथ ही राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो के आँकड़ों के अनुसार एससीएसटी एक्ट में चार्जशीट 78 प्रतिशत केस में फ़ाइल हुई है। इससे भी पता चलता है कि अपराध हुआ है पर अन्त में अपराध सिद्धि तक बहुत ही कम केस पहुँच पाते हैं। ये चन्द आँकड़े साफ़ बता रहे हैं कि 70 साल की आज़ादी के बाद भी ग़रीब दलित आबादी हक़-अधिकारों से वंचित है। बर्बर दलित उत्पीड़न की घटनाओं और उसके बाद कार्रवाई के नाम पर खानापूर्ति ये दिखाती है कि सरकार, पुलिस-प्रशासन से लेकर कोर्ट तक में जातिगत मानसिकता से ग्रस्त लोग भरे पड़े हैं। यही कारण है कि दलितों पर हमले करने वाले ज़्यादातर अपराधी बच निकलते हैं। देशभर में एससी/एसटी क़ानून के तहत वैसे भी वर्तमान में दलित उत्पीड़न के मामले की एफ़आईआर दर्ज कराना सबसे मुश्किल काम होता है। साथ ही पुलिस प्रशासन का रवैया मामले में सज़ाओं का प्रतिशत काफ़ी कम कर देता है। दूसरा इस क़ानून में ग़लत केस दर्ज कराने पर पीड़ित के विरुद्ध आईपीसी की धारा 182 के अन्तर्गत केस दर्ज करके दण्डित करने का प्रावधान पहले से ही है। इसी प्रकार अग्रिम जमानत मिलने तथा उच्च अधिकारियों की अनुमति से ही गिरफ़्तारी करने का आदेश इस एक्ट के डर को बिल्कुल ख़त्म कर देगा। पहले ही इस एक्ट के अन्तर्गत सज़ा मिलने की दर बहुत कम है। इस प्रकार कुल मिला कर एससी/एसटी एक्ट के दुरुपयोग को रोकने के इरादे से सुप्रीम कोर्ट द्वारा दिये गये दिशा-निर्देश दलितों की रक्षा की बजाय आरोपी के हित में ही खड़े दिखायी देते हैं जिससे दलित उत्पीड़न की घटनाओं में बढ़ोत्तरी ही होगी।

कितने दलितों की हत्या	कब और कहाँ	न्यायिक परिणाम
44	किलवनमनी, तमिलनाडु, 25 दिसम्बर 1968	सभी आरोपियों को बरी कर दिया गया
13	चुन्दुर, आन्ध्रप्रदेश, 6 अगस्त 6 1991	2014 में सभी आरोपियों को छोड़ दिया गया
10	नागरी, बिहार, 11 नवम्बर 1998	मार्च 2013 में सभी आरोपियों को छोड़ दिया गया
22	शंकर बीघा गाँव, बिहार, 25 जनवरी, 1999	जनवरी 2015 में सभी आरोपी बरी
21	बथानी टोला, बिहार, 11 जुलाई 1996	अप्रैल 2012 में सभी आरोपियों को छोड़ दिया गया
32	मिंयापुर, बिहार, 2000	2013 में सभी को छोड़ दिया गया
58	लक्ष्मणपुर बाथे, 1 दिसम्बर 1997	2013 में सभी को छोड़ दिया गया
1	महाराष्ट्र का प्रसिद्ध नितिन आगे केस, जिसमें एक नौजवान को पूरे गाँव के सामने मार दिया गया था, 28 अप्रैल 2014	23 नवम्बर 2017 के दिन सबको छोड़ दिया गया

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का बहुत ढोल पीटा जाता है पर हालिया कुछ निर्णयों से ये स्पष्ट हो रहा है कि आरएसएस की मोदी सरकार अपने जजों को नियुक्ति देकर तमाम निर्णय पारित करवा रही है। हाल ही में जज लोया केस में भी सुप्रीम कोर्ट ने जो भूमिका अपनायी है, वो इस बात की पुष्टि करती है। एससी/एसटी एक्ट में बदलाव का जब ये फ़ैसला सुनाया गया था तो उससे पहले कई महीनों तक लगातार देशभर में बेरोज़गार युवकों के प्रदर्शन चल रहे थे। इस एक फ़ैसले ने ना सिर्फ़ उस मुद्दे को दबा दिया बल्कि नौजवानों-मेहनतकशों के बीच जातिगत दीवार भी बड़ी कर दी। फ़ैसले के बाद लोग आरक्षण ख़त्म करने जैसी माँगों को लेकर आगे आने लगे। पूरे समाज में दलित व ग़ैर-दलित के बीच की खाई पहले से और बड़ी हो गयी। 2 अप्रैल को देशभर में इस क़ानून में बदलाव के ख़िलाफ़ जब प्रदर्शन हुए तो तमाम उच्च जातीय लोगों ने दलितों पर हमले किये। मध्यप्रदेश के ग्वालियर में तो बाक़ायदा पिस्तौल लेकर दलितों को गोलियाँ मारता व्यक्ति सामने आया। इस फ़ैसले से जो खेल मोदी सरकार खेलना चाहती थी वो पूरा होता नज़र आ रहा है।

गुजरात मॉडल

देशभर में गुजरात मॉडल की बहुत बात होती है, पर असल में ये मॉडल क्या है? ये मॉडल है मज़दूरों-मेहनतकशों की लूट की खुली छूट और दलितों के दमन की भी खुली छूट। इसका एक प्रमाण ये है कि देशभर में जहाँ एससी/एसटी एक्ट में अपराध सिद्ध होने की दर 28.4 प्रतिशत है, वहीं गुजरात में इसकी छह गुना कम 3.4 प्रतिशत है। गुजरात में मज़दूरों की हड़तालें बहुत कम होती हैं क्योंकि वहाँ बर्बरतम दमन किया जाता है। इसी मॉडल को आज देशभर में मोदी सरकार लागू कर रही है। सिर्फ़ इस क़ानून को ही नहीं बल्कि देश-भर में आजकल जनता के अलग-अलग हिस्सों के संरक्षण के लिए बने विभिन्न क़ानूनों को कमज़ोर करने का समय चल रहा है। कुछ क़ानून सीधे संसद में बदले जा रहे हैं तो किसी में कोर्ट द्वारा संज्ञान लेकर परिवर्तन किये जा रहे हैं। मोदी सरकार विभिन्न श्रम क़ानूनों को "व्यापार करने की आसानी" के नाम पर बदलने की योजना लम्बे समय से बना रही है और इसका ड्राफ्ट तैयार है। ज़ाहिर है कि व्यापार आसान तभी होता है जब मज़दूरों का शोषण बढ़ता है। ऐसा ही एससी/एसटी क़ानून के मामले में हो रहा है। सुप्रीम कोर्ट का फ़ैसला साफ़ तौर पर दर्शाता है कि मोदी सरकार द्वारा आँकड़ों की अनदेखी करते हुए कमज़ोर दलीलें रखी गयी हैं। असल में भाजपा और आरएसएस इस क़ानून को निष्प्रभावी बनाना चाहती है। ऐसे में सभी ग़रीब मेहनतकश आबादी और इंसाफ़पसन्द लोगों को इस क़ानून में परिवर्तन के विरुद्ध एकजुट होकर दलितों पर बढ़ते अत्याचारों के खिलाफ़ संघर्ष करने की ज़रूरत है क्योंकि ये एक-एक कर कभी दलित, कभी मज़दूर, तो कभी महिलाओं के हक़ों के संरक्षण के लिए बने क़ानूनों को निष्प्रभावी बनाते रहेंगे।

देश में क़ानून दो तरह के होते हैं। एक वो क़ानून जो जनता के एक हिस्से या सारे हिस्से के हक़-अधिकारों से सम्बन्धित होते हैं (जैसे महिलाओं के विरुद्ध होने वाले अपराधों के लिए बने क़ानून, मज़दूरों के हक़ों-अधिकारों से सम्बन्धित क़ानून, दलितों पर अत्याचार रोकने के लिए बने क़ानून आदि) और दूसरे क़ानून वो होते हैं जो जनता का दमन-उत्पीड़न करने के लिए सरकार व प्रशासन को ताक़त देते हैं (जैसे पुलिस को एनकाउण्टर की ताक़त देना, फ़ौज को कुछ इलाक़ों में विशेषाधिकार यानी एनकाउण्टर व गिरफ़्तार करने की इजाज़त देना)। हमारे देश की सरकार चाहे वह कांग्रेस की रही हो या अभी भाजपा वाली सरकार हो, वो स्पष्ट तौर पर पूँजीपतियों के हितों का प्रतिनिधित्व करती है। उनके हितों के लिए वो जहाँ मज़दूरों के अधिकारों को लगातार कम कर रही है, वहीं सरकार के दमन के अधिकारों को बढ़ा रही है। फ़र्ज़ी मामलों में मारूति के मज़दूरों को चार साल तक जेल में रखना, देश की जेलों में दसियों साल तक मुस्लिम नौजवानों को रखना और बाद में निर्दोष कहकर छोड़ देना, फ़र्ज़ी एनकाउण्टर में लोगों को मार देना - ये उसी के उदाहरण हैं। अभी आधार कार्ड को अनिवार्य बनाकर भी सरकार और प्रशासन अपने दमन के दायरे को बढ़ाने की योजना बना रहा है। लेकिन सरकार और प्रशासन ये भी जानते हैं कि अगर लोगों के अधिकारों को एक साथ छीना तो बग़ावत हो जायेगी, इसलिए वो धीरे-धीरे छीनते हैं और साथ ही छीनते समय भी जनता के बीच जातिगत और धार्मिक झगड़े लगा देते हैं। जैसा कि अभी एससी/एसटी क़ानून के मामले में हो रहा है। जनता को दलित और ग़ैर-दलित के बीच बाँटा जा रहा है। आज वो अगर जनता के एक हिस्से के लिए आये हैं तो कल हमारे लिए भी ज़रूर आयेंगे। भारत की पूँजीवादी राज्यसत्ता (सरकार और पुलिस-प्रशासन) स्पष्ट तौर पर ग़रीब विरोधी, दलित विरोधी और महिला विरोधी है यानी इस पूँजीवादी राज्यसत्ता का एक जातिगत चरित्र भी है और लैगिक चरित्र भी। यह समझकर ही हम इसके विरुद्ध संघर्ष कर सकते हैं।

आज देशभर में बेरोज़गारी

(पेज 2 पर जारी)

एससी/एसटी एक्ट को कमज़ोर करने के ख़िलाफ़ नौभास द्वारा महाराष्ट्र में चलाया गया अभियान

20 मार्च को सुप्रीम कोर्ट द्वारा आरक्षित दलित आबादी पर होने वाले अत्याचार के खिलाफ़ 1989 में बने क़ानून को कमज़ोर करने का फ़ैसला सुनाया गया। जिसके अनुसार कोर्ट द्वारा जारी दिशा-निर्देशों के बाद अब एससी/एसटी एक्ट के तहत दर्ज मामलों में तत्काल गिरफ़्तारी पर रोक लगा दी गयी है और साथ ही अग्रिम जमानत पर से रोक को हटा दिया गया है। इस फ़ैसले का देशभर में विरोध हुआ और 2 अप्रैल को क़ानून के बदलाव के विरोध में भारत बन्द का भी आह्वान किया गया था। नौजवान भारत सभा ने भी सरकार द्वारा एससी/एसटी एक्ट को कमज़ोर करने के विरोध में महाराष्ट्र के मुम्बई, पुणे और अहमदनगर इलाक़ों में अभियान चलाया।

मुम्बई में अभियान मुख्यतः लल्लूभाई कम्पाउण्ड, साठे नगर, जाकिर हुसैन नगर, टाटानगर, बैगन बारी, मण्डाला, महाराष्ट्र नगर आदि इलाक़ों में चलाया गया। साथ-साथ यूनिवर्सिटी में छात्रों के बीच भी पर्चे बाँटे गये। जगह-जगह नुक्कड़ सभाएँ की गयीं और पर्चे बाँटे गये। नुक्कड़ सभाओं के दौरान नौजवान भारत सभा के बबन ने बात रखते हुए कहा कि अगर आज दलित उत्पीड़न सम्बन्धी घटनाओं का आँकड़ा उठाकर देखें तो पता चलेगा कि हर दिन दो दलितों की हत्या कर दी जाती है और प्रतिदिन औसतन 6 स्त्रियाँ बलात्कार की शिकार होती हैं। 2007 से लेकर 2017 के बीच में दलित विरोधी अपराधों में 66 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई है। 2016 में ही सिर्फ़ 48000 से ज़्यादा मामले दर्ज हैं। ऐसे में क़ानूनों को कमज़ोर बनाना सरकार की दलित विरोधी मानसिकता को ज़ाहिर करता है।

पुणे में 2 अप्रैल को नौजवान भारत सभा, लोकायत और अन्य प्रगतिशील संगठनों ने मिलकर एक विरोध प्रदर्शन का आयोजन किया। इसमें नौजवान भारत सभा की तरफ़ से बात रखते हुए अभिजीत ने कहा कि एनसीआरबी की रिपोर्ट के अनुसार 2014-2016 के बीच में भाजपा शासित पाँच राज्यों में दलितों पर अत्याचार के सबसे ज़्यादा मामले दर्ज हैं। भाजपा सरकार आने के बाद ऊना, सहारनपुर जैसी घटनाएँ भी हमारे सामने आयी हैं। आज ज़रूरी है कि इस मनुवादी फासीवादी सरकार के ख़िलाफ़ संघर्ष करने के लिए हम तैयार रहे।

अहमदनगर में सिद्धार्थ कॉलोनी और न्यू आर्ट्स कॉलेज में इसी विषय पर पर्चा वितरण किया गया और नुक्कड़ सभाएँ भी की गयीं। नुक्कड़ सभा में बात रखते हुए सोमनाथ ने कहा - अहमदनगर में दलित उत्पीड़न की कई घटनाएँ देखने को मिली हैं, चाहे वह जवाखेड़े हो या फिर नितिन आगे की घटना हो, जो समाज में मौजूद जातिगत उत्पीड़न की तस्वीर सामने ला देती है। आज ज़रूरी है इन जातिगत उत्पीड़नों के ख़िलाफ़ आवाज़ उठायी जाये। साथ-साथ जनता को संगठित करके क़ानूनों को कमज़ोर करने की कोशिशों को नाकाम किया जाए।

– बिगुल संवाददाता

सत्ता पर काबिज़ लुटेरों-हत्यारों-बलात्कारियों के गिरोह से देश को बचाना होगा!

(पेज 1 से आगे)

और घिनौनी छेड़खानी की घटनाएँ कम होने की बजाय बढ़ती ही जा रही हैं। बलात्कारियों को सख़्त से सख़्त सज़ा दिलाने और पीड़ितों को इंसाफ़ व सुरक्षा के लिए सड़कों पर उतरने के साथ ही हमें इस सवाल पर भी सोचना ही होगा कि स्त्रियों और बच्चियों पर बर्बर हमलों और बलात्कार की घटनाएँ इस क़दर क्यों बढ़ती जा रही हैं और इनके लिए कौन-सी ताक़तें ज़िम्मेदार हैं! अपने आक्रोश को गहराई देकर हमें इस सवाल का भी जवाब ढूँढना होगा कि आखिर हमारे समाज में कुलदीप सिंह सेंगर और सांझीराम जैसे फासिस्ट दरिंदे कुकुरमुत्ते की तरह क्यों पनप रहे हैं?

क्यों बढ़ रही है औरतों के ख़िलाफ़ बर्बर हिंसा?

इसमें कोई शक़ नहीं है कि हज़ारों सालों से चला आ रहा समाज का पितृसत्तात्मक ढाँचा औरतों को पुरुषों से कमतर समझने और उनके उत्पीड़न को न्यायसंगत ठहराने की मानसिकता पैदा करता है और समाज के पोर-पोर में समायी यह मानसिकता बलात्कार जैसे जघन्य कृत्य के प्रति भी उदासीनता पैदा करती है जिससे ऐसी घटनाओं को बढ़ावा मिलता है। लेकिन अपने आप में यह कारण औरतों के ख़िलाफ़ बढ़ती बर्बर हिंसा को पूरी तरह से समझने में नाकाफ़ी है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ ही साथ हमें मौजूदा सामाजिक-आर्थिक परिवेश के उन पहलुओं को बारीकी से समझना होगा जो ऐसी बर्बरता को बढ़ावा दे रहे हैं। सैकड़ों वर्षों की औपनिवेशिक गुलामी की वजह से ठहरावग्रस्त रहे भारतीय समाज में आज़ादी के बाद जो पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक ढाँचा थोपा गया वह औरतों को बराबर का नागरिक समझने की बजाय उन्हें उपभोग की वस्तु समझने की मानसिकता को पाल-पोस रहा है। ख़ासकर पिछली चौथाई सदी से जारी नवउदारवाद के दौर में भोग-विलास और 'खाओ-पियो ऐश-करो' की संस्कृति बहुत तेज़ी से फैली है। ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा कमाने की अन्धी हवस में औरतों का इस्तेमाल उत्पादों को बेचने के लिए और महज़ मनोरंजन की वस्तु समझने के लिए किया जाता है जिसकी बानगी भाँति-भाँति के फूहड़ विज्ञापनों, फ़िल्मों और टीवी सीरियलों, गानों आदि में देखी जा सकती है। बलात्कारी और लम्पट तत्व भोग-विलास पर टिके इस पूँजीवादी तंत्र से जनित संस्कृति के ही उत्पाद हैं। लेकिन बलात्कार जैसे जघन्य कृत्य को अंजाम देने वालों के अलावा भी समाज में पुरुषों की अच्छी-खासी आबादी ऐसी मानसिकता से ग्रस्त होती है जो औरतों को बलपूर्वक अपने अधीन कर लेना चाहती है। समाज में बड़े पैमाने पर फैली इस स्त्री-विरोधी मानसिकता का एक उदाहरण कठुआ की घटना के सुर्खियों में रहने के दौरान सामने आया जब बहुत बड़ी संख्या में लोगों ने कठुआ में गैंग रेप की वहशियाना हरक़त को देखने के लिए पोर्न साइट्स पर पीड़िता बच्ची के नाम को खोजा। यह पूँजीवादी सामाजिक-सांस्कृतिक-नैतिक पतन की पराकाष्ठा नहीं तो और क्या है! नवउदारवाद के पिछले कुछ दशकों में एक नवधनाढ्य वर्ग पैदा हुआ है जिसे लगता है पैसे के बूते पर वह सबकुछ खरीद सकता है। पैसे के बल पर औरतों को अधीन करना इस वर्ग के लिए सामाजिक प्रतिष्ठा का विषय होता है। यही नहीं, नवउदारवादी दौर में समाज के रसातल पर मज़दूरों के बीच भी एक आवारा, लम्पट, पतित वर्ग भी पैदा हुआ है जो पूँजीवादी अमानवीकरण की सभी हदों को पार कर चुका है जिसकी बानगी घृणित किस्म की यौन हिंसाओं में अक्सर सामने आती है।

इसके अतिरिक्त पूँजीवादी संकट के दौर में फल-फूल रही फासीवादी और धार्मिक कट्टरपंथी ताक़तें सचेतन तौर पर स्त्रियों की आज़ादी पर अंकुश लगाने और उनको फिर से चूल्हे-चौखट तक सीमित करने की मानसिकता लगातार परोस रही हैं! ये ताक़तें बलात्कार और यौन अपराधों के लिए औरतों को ही जिम्मेदार ठहराने की मानसिकता लगातार समाज में फैलाती हैं जिसकी वजह से आम लोग भी अपराधियों पर नकेल कसने के लिए सड़कों पर उतरने की बजाय लड़कियों और औरतों पर पाबन्दी लगाते हैं। यही नहीं हिन्दुत्ववादी फासीवादी ताक़तें यौन हिंसा को एक राजनीतिक उपकरण की भाँति इस्तेमाल करके अल्पसंख्यक समुदाय में ख़ौफ़ भरने की घिनौनी साज़िशें रच रही हैं। ग़ौरतलब है कि **हिन्दुत्व के विचारक सावरकर ने भी अपनी किताब ''भारतीय इतिहास के छह गौरवशाली युग'' में हिन्दू मर्दों द्वारा मुस्लिम औरतों के साथ बलात्कार को न्यायसंगत ठहराया था। उत्तर प्रदेश का मुख्यमंत्री बनने से पहले योगी आदित्यनाथ की एक जनसभा में मुस्लिम महिलाओं की लाश को उनकी कब्र से निकालकर बलात्कार कहने की बात कही गयी थी और आदित्यनाथ मंच पर बैठे मौन सहमति दे रहे थे।** कठुआ की वीभत्स घटना भी बकरवाल मुस्लिम समुदाय को उनके गाँव से खदेड़ने के मक़सद से अंजाम दी गयी थी। 'हिन्दू एकता मंच' के बैनर तले बलात्कारियों के बचाव में रैली निकालना यह साफ़ दिखाता है कि इस मामले में बलात्कार जैसे घृणित अपराध का उपयोग एक राजनीतिक मक़सद से किया गया था।

बलात्कार की घटनाओं में बढ़ोत्तरी का एक कारण यह भी है कि जिन सांसदों और विधायकों को कानून के निर्माण की जिम्मेदारी मिली है वे स्वयं औरतों के भक्षक के रूप में सामने आ रहे हैं। उन्नाव की घटना में यह स्पष्ट तौर पर सामने आया। **एसोसिएशन ऑफ़ डेमोक्रेटिक राइट्स की एक रिपोर्ट के मुताबिक देश में 51 सांसद और विधायकों पर बलात्कार और अपहरण सहित महिलाओं के ख़िलाफ़ अपराधों के संगीन आरोप हैं।** ग़ौरतलब है कि **इनमें सबसे अधिक संख्या 'बेटी बचाओ...' का स्वांग कर रही भारतीय जनता पार्टी के सदस्यों की है।** पिछले कुछ समय से भाजपा गुण्डों, मवालियों, दंगाइयों और बलात्कारियों की शरणस्थली बनकर उभर रही है जिसमें सभी पार्टियों के अपराधी शरण ले रहे हैं! यही नहीं समाज को नैतिकता का पाठ पढ़ाने वाले और संस्कारों की दुहाई देने वाले आसाराम, रामपाल और राम रहीम जैसे बाबा बलात्कार के संगीन अपराध में लिप्त पाये गये हैं जो बिना राजनीतिक सरपरस्ती के इतने घिनौने अपराधों को अंजाम दे ही नहीं सकते थे।

औरतों के ख़िलाफ़ बढ़ती हिंसा रोकने के लिए किया क्या जाए?

जैसा कि हमने ऊपर इंगित किया था, फासीवादी दौर में पूँजीवादी लोकतंत्र की रही-सही संस्थाएँ भी खोखली हो चुकी हैं। विधायिका और कार्यपालिका की सड़ांध तो बहुत पहले ही लोगों के सामने आ चुकी थी, अब न्यायपालिका और मीडिया के स्तंभ भी धूल चाटते नज़र आ रहे हैं। ऐसे में संविधान, कानून और तमाम सरकारी संस्थाओं के भरोसे रहकर औरतों और बच्चियों के साथ होने वाली बर्बरता को रोका नहीं जा सकता है। इसकी बजाय हमें आम लोगों की संगठित ताक़त पर भरोसा करना होगा। देश भर में बलात्कार और छेड़खानी जैसी घटनाओं को रोकने के लिए गली-मोहल्लों और बस्तियों के स्तर पर महिला-हिंसा विरोधी चौकसी दस्ते बनाने होंगे जिन्हें गली-मोहल्ले के लम्पट तत्वों, दारू के ठेकों और अश्लील सामग्री का वितरण करने वाली दुकानों पर हल्ला बोलकर ध्वस्त करना होगा। औरतों को आत्म रक्षा के प्रशिक्षण के लिए प्रोत्साहित करना भी बेहद ज़रूरी है। इसके अतिरिक्त उन दकियानूसी और धार्मिक कट्टरपंथी ताक़तों के ख़िलाफ़ निरन्तर अभियान चलाने की ज़रूरत है जो औरतों को पैरों की जूती समझने वाली पितृसत्तात्मक मानसिकता के विषाणुओं को फलने-फूलने के लिए अनुकूल परिवेश तैयार करती हैं। साथ ही हमें मौजूदा व्यवस्था के दायरे के भीतर स्त्रियों को बराबरी के अधिकार के लिए संघर्ष को भी गति देनी होगी।

उपरोक्त तात्कालिक क़दम उठाना निस्संदेह ज़रूरी हैं, परन्तु औरतों के ख़िलाफ़ होने वाली बर्बर हिंसा के कारणों को समझने के बाद इसमें कोई शक़ नहीं रह जाता कि इस हिंसा को जड़ से समाप्त करने के लिए एक लम्बी लड़ाई की ज़रूरत है। यह लड़ाई हज़ारों सालों से चले आ रहे पुरुष प्रधान सामाजिक ढाँचे और ा पूँजीवादी व्यवस्था को नेस्तनाबूद करके समानता व न्याय पर आधारित शोषण व उत्पीड़न विहीन सामाजिक व आर्थिक ढाँचे के निर्माण करने की लड़ाई से जुड़ी है। यह लड़ाई ऐसे समाज के निर्माण से जुड़ी है जहाँ औरतें उपभोग करने वाले माल की बजाय एक आज़ाद नागरिक हों। इसलिए स्त्री मुक्ति की लड़ाई समाज के क्रान्तिकारी परिवर्तन की लड़ाई के अभिन्न अंग के रूप में लड़ी जानी चाहिए।

हमें व्यापक नागरिक प्रतिरोध संगठित करना होगा। न्यायपालिका भी सत्तारूढ़ पार्टी की दासी बन चुकी है! इनसे न्याय की उम्मीद मूर्खता होगी। उन्नाव और कठुआ के बलात्कारी भेड़ियों के पक्ष में किसी भी क़िस्म का तर्क देने वाले और "तब कहाँ थे..." जैसी बातें करने वालों का सामाजिक बहिष्कार किया जाना चाहिए। पूरे देश में जगह-जगह पोस्टर लग रहे हैं: "संघी और भाजपा नेता यहाँ प्रवेश न करें, यहाँ स्त्रियाँ और बच्चियाँ रहती हैं।" नागरिकों को ऐसे पोस्टर गाँव-गाँव और शहरों के मोहल्ले-मोहल्ले में लगाने चाहिए। संघी भोंपू बन चुके टी.वी. चैनलों के बहिष्कार के लिए पर्चे-पोस्टर निकालकर घर-घर अभियान चलाने की ज़रूरत है। यदि आप अपने बच्चों की हिफ़ाज़त चाहते हैं तो उन्हें हर प्रकार के धार्मिक कट्टरपंथियों द्वारा चलाये जा रहे स्कूलों से बाहर निकालिये। अब भी होश में नहीं आये तो यह देश जीने लायक नहीं रहेगा! निष्क्रियता हत्यारों, बलात्कारियों और उनके सरपरस्त फासिस्ट राजनेताओं का मनोबल बढ़ा रही है।

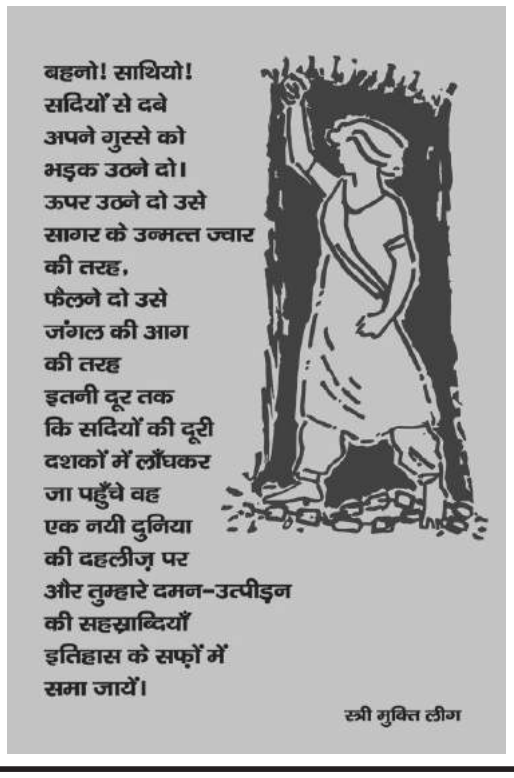

'पृथ्वी दिवस' (22 अप्रैल) के मौक़े पर

अगर हमने पूँजीवाद को तबाह नहीं किया तो पूँजीवाद पृथ्वी को तबाह कर देगा

पर्यावरण को लेकर एन.जी.ओ.-पंथियों की थोथी चिन्ताओं से नहीं बचेगी ये धरती

कविता कृष्णपल्लवी

'पृथ्वी दिवस' के अवसर पर 22 अप्रैल को पूरी दुनिया में पर्यावरण को बचाने की चिंता प्रकट करते हुए कार्यक्रम हुए। 1970 में इसकी शुरुआत अमेरिका से हुई और यह बात अनायास नहीं लगती कि इसके लिए 22 अप्रैल का दिन चुना गया जो लेनिन का जन्मदिन है। लेनिन के बहाने क्रांति पर बातें हों, इससे बेहतर तो यही होगा कि पर्यावरण के विनाश पर अकर्मक चिंतायें प्रकट की जाएँ और लोगों को ही कोसा जाये कि अगर वे अपनी आदतें नहीं बदलेंगे, और पर्यावरण की चिंता नहीं करेंगे, तो वह दिन दूर नहीं जब धरती पर क़यामत आ जायेगी। यानी सामाजिक बदलाव के बारे में नहीं, महाविनाश के दिन के बारे में सोचो। हालीवुड वाले इस महाविनाश की थीम पर सालाना कई फ़िल्में बनाते हैं।

पृथ्वी दिवस पर विभिन्न बुर्जुआ सरकारें, साम्राज्यवादी देशों की जुबां बोलने वाली अंतरराष्ट्रीय एजेंसियाँ और देशी-विदेशी पूँजीपतियों की फंडिंग से चलने वाले एन.जी.ओ. सबसे अधिक प्रोग्राम करते हैं। इनमें लोगों को पेड़ लगाने, फिजूलखर्ची की उपभोक्ता संस्कृति से बचने, नदियों को साफ़ करने, तालाबों और जंगलों को बचाने, प्लास्टिक का इस्तेमाल न करने आदि-आदि की राय दी जाती है। ऐसा लगता है मानो जनता और जनता की बुरी आदतें, या मशीनीकरण, या आधुनिकता ही पर्यावरण-विनाश के लिए दोषी हैं। इस तरह, असली अपराधी को परदे के पीछे छुपा दिया जाता है और सारी ज़िम्मेदारी लोगों पर डाल दी जाती है।

पृथ्वी के पर्यावरण और पारिस्थितिक-तंत्र के विनाश के लिए लोग और उनकी बुरी आदतें नहीं, बल्कि मुनाफ़े की अन्धी हवस और गलाकाटू होड़ ज़िम्मेदार है। ये पूँजीपति हैं जो कारखानों की गन्दगी से नदियों, समन्दर, आकाश और हवा को दूषित करते हैं और अवशिष्ट-शोधन की तकनीक मौजूद होते हुए भी सारी गन्दगी वातावरण में प्रवाहित करके अपना पैसा बचाते हैं। ये पूँजीपति हैं जो मुनाफ़े के लिए जेनेटिक बीजों, कीटनाशकों और रसायनों से खेती की पूरी ज़मीन को पाट देते हैं। ये पूँजीपति हैं जो स्वच्छ और पुनर्नवीकरणीय ऊर्जा-स्रोतों की मौजूदगी के बावजूद, और तकनीक की मौजूदगी के बावजूद जीवाश्म ईंधन का इस्तेमाल करके ध्रुवों की आइस कैप्स के पिघलने, ग्लेशियरों के सिकुड़ने, ओज़ोन परत में छेद कर देने और ग्लोबल वार्मिंग जैसी ख़तरनाक पर्यावरणीय समस्याओं के लिए ज़िम्मेदार हैं। ये पूँजीपति हैं जो वन-संपदा के लिए और खनिजों के लिए अंधाधुंध जंगलों का विनाश कर रहे हैं। ये पूँजीपति हैं जो बाज़ारों के बँटवारे और मुनाफ़े की होड़ के लिए विनाशकारी युद्ध लड़ते हैं और सर्वाधिक प्रदूषण पैदा करने वाले दुनिया के विशालतम उद्योग – हथियारों के उद्योग को खड़ा करते हैं।

अराजकता पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली का अनिवार्य अन्तर्निहित तत्व होती है। मुनाफ़े के लिए गलाकाटू होड़ करते पूँजीपति सिर्फ़ अपने मुनाफ़े के बारे में सोचते हैं, वे मनुष्यता के या स्वयं अपने भी दूरगामी भविष्य के बारे में नहीं सोच सकते। पूँजीवादी व्यवस्था के दूरगामी भविष्य के बारे में सोचने का काम पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी, यानी सरकार का होता है। पर वह भी पूँजीपतियों के दूरगामी हित के बारे में इतनी दूर तक नहीं सोच सकती कि पृथ्वी और पर्यावरण को बचाने के लिए कारगर कदम उठा सके। पूँजीवादी व्यवस्थाकी प्रकृति ही ऐसी होती है कि उसमें धुम्रपान-निषेध और मद्य-निषेध का प्रचार भी होता है और बीडी-सिगरेट-शराब का भी प्रचार होता है और बिक्री होती है। पूँजीवादी व्यवस्था में हर समस्या का समाधान अपने-आप में स्वयं समस्या बन जाता है। कीटनाशकों-रसायनों के दुष्प्रभाव से बचने के लिए 'ऑर्गनिक फ़ूड' का प्रचार होता है और देखते ही देखते उसकी एक विराट इन्डस्ट्री खड़ी हो जाती है, मुनाफ़ा कूटने का एक नया क्षेत्र विकसित हो जाता है। 'क्लीन एनर्जी' का शोर मचता है और सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा उत्पादन के सेक्टर में दैत्याकार देशी-विदेशी इजारेदार घराने पैदा हो जाते हैं। पुरानी समस्या भी मौजूद रहती है और उसे दूर करने के नाम पर मुनाफ़ा कूटने का नया सेक्टर और नयी समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। सौर ऊर्जा और पवन ऊर्जा के उपकरण बनाने वाली कम्पनियाँ भी खनिजों के लिए प्रकृति का अंधाधुंध विनाश करती हैं और जमकर हवा-पानी को प्रदूषित करती हैं।

कुछ 'सादा जीवन उच्च विचार' टाइप लोग "प्रकृति की ओर वापसी" का, मितव्ययी होने का नारा देकर समस्या का हल ढूँढ लेना चाहते हैं। वे आधुनिकता, तकनोलोजी और उपभोक्ता-संस्कृति से छुटकारा पाने का सुझाव देते हैं। पहली बात यह कि दोष आधुनिकता या तकनोलोजी का नहीं है। विज्ञान और तकनोलोजी का इस्तेमाल यदि मुनाफ़े को केंद्र में न रखकर सामाजिक हित को केंद्र में रखकर होगा तो वह लगातार मानव जीवन को उन्नत बनाने का काम करती रहेगी। दूसरी बात, जबतक समाज का पूँजीवादी ढाँचा बना रहेगा तबतक हम एक-एक नागरिक को उपभोक्ता संस्कृति से दूर करने का आध्यात्मिक टाइप चाहे जितना आन्दोलन चला लें, इससे कुछ नहीं होगा। हमारी चेतना और संस्कृति सामाजिक परिवेश से निर्धारित होती है और लोभ-लाभ के सामाजिक ढाँचे को बदले बिना उपभोक्ता संस्कृति के प्रभाव को समाप्त नहीं किया जा सकता। तीसरी बात, आम लोगों की "बुरी आदतों" से पर्यावरण को 1-2 प्रतिशत ही नुकसान होता है (और वे बुरी आदतें भी अपना सामान बेंचकर मुनाफ़ा कमाने के लिए पूँजीपति ही पैदा करते हैं) पर्यावरण को 98-99 प्रतिशत नुकसान पूँजीवादी उत्पादन, खनिजों के अनियंत्रित दोहन, जीवाश्म ईंधन के इस्तेमाल, मुनाफ़े की होड़ से जन्मे विनाशकारी युद्धों और युद्ध-सामग्री के उत्पादन के विशालतम वैश्विक उद्योगों आदि से होता है। पूँजीवाद जब पर्यावरण-विनाश को

(पेज 10 पर जारी)

वारसा घेट्टो के नौजवानों का फासिस्ट-विरोधी वीरतापूर्ण विद्रोह हमें प्रेरित करता रहेगा!

मुकेश असीम

नाज़ियों के आधिपत्य वाले क्षेत्रों में उनके खिलाफ होने वाली जनता की पहली बग़ावतों में से एक 75 वर्ष पहले 19 अप्रैल 1943 को वारसा, पोलैंड के यहूदी बाड़े में शुरू हुआ विद्रोह था। यहाँ कुछ सौ बहादुर नौजवान यहूदी योद्धाओं ने सिर्फ़ थोड़े-से छोटे हथियारों के बल पर 29 दिन तक नाजियों के पाँच हज़ार स्टॉर्मट्रूपर सैनिकों का अत्यन्त वीरता से सामना किया था। इन वीर नौजवानों ने, इनमें से एक के शब्दों में, तय किया था कि 'शस्त्रों सहित मृत्यु शस्त्र रहित मृत्यु से सुंदर है' और उनका दृढ़ निश्चय था कि वे मरने से पहले अधिक से अधिक फासिस्टों को मार गिरायेंगे। इसलिए यह विद्रोह तभी समाप्त हो पाया था जब नाजी फ़ौज ने पूरी बस्ती में विद्रोहियों के ठिकानों वाली इमारतों को ही जलाकर पूरी तरह राख कर दिया। इस शानदार विद्रोह के वीरोचित संघर्ष ने दुनिया भर के फासिस्ट विरोधी संग्राम में प्रेरणा की नई जान फूँकी थी, इसको आज सभी स्वीकार करते हैं। मगर जिस बात की चर्चा बहुत कम होती है, वह यह कि यह कोई स्वतःस्फूर्त बगावत नहीं थी। बल्कि इस विद्रोह की तैयारी और नेतृत्व नौजवान कम्युनिस्टों और अन्य वामपंथी समूहों के फासिस्ट विरोधी मोर्चे ने किया था।

पोलैंड पर कब्जे के कुछ सप्ताह में ही जर्मन नाजियों ने वारसा की 4 लाख यहूदी आबादी को शेष आबादी से अलग कर 10 फुट ऊँची दीवारों से घिरे एक छोटे से बाड़े में जाने को विवश कर दिया था। इसके बाद इसमें अन्य स्थानों से लाये गये 5 लाख और यहूदियों को भी भर दिया गया था। हालत ऐसे समझी जा सकती है कि वारसा शहर की 30% आबादी उसके 2.6% स्थान में ठूँस दी गई थी। ढाई मील लम्बी इस बस्ती में इससे पहले सिर्फ डेढ़ लाख आबादी थी। कई-कई परिवार एक ही कमरे में रहने को मजबूर थे, भोजन की बेहद कमी थी, ग़रीबी, भुखमरी और बीमारी चरम पर थी। 1942 आते-आते हालत यह थी कि हर महीने 5 हज़ार लोग बीमारी व कुपोषण से जान गँवा रहे थे।

लेकिन इस विकट स्थिति में भी फासीवाद के चरित्र की सही समझ के अभाव में यहूदी नेतृत्व की आरम्भिक प्रतिक्रिया नाज़ियों के साथ सहयोग और ज़ुल्म को बर्दाश्त करते हुए वक्त गुज़ारने की थी। उनका मानना था कि समय गुज़रने के साथ यह मुसीबत भी गुज़र जायेगी। यहाँ तक कि बस्ती में गठित यहूदी परिषद नाज़ियों को यहूदी विरोधी नीतियों को लागू करने में सहयोग भी कर रही थी। इसका स्वाभाविक परिणाम भारी नाउम्मीदी और अवसाद का माहौल था। घोर हताशा की स्थिति में कम्युनिस्ट पार्टी और अन्य वामपंथी समूहों ने प्रतिरोध की सामूहिक चेतना विकसित करने और घोर विपत्ति के इस वक्त को सार्थक राजनीतिक आन्दोलन में बदलने हेतु बाड़े में सांगठनिक कार्यों की शुरुआत की। भूख व घोर हताशा के अन्धकार पूर्ण दिनों में नौजवान संगठनों की इकाइयों ने सामाजिक-मनोवैज्ञानिक सहारे का भी काम किया। इनके कार्यों में नाज़ी-विरोधी साहित्य वितरण के साथ अत्यंत सीमित उपलब्ध भोजन के सामूहिक सहभाग के मानवीय संवेदना-सहायता के कार्य भी शामिल थे, जो अवसाद के माहौल में जोश को बनाये रखने में मदद करते थे। एक नौजवान कम्युनिस्ट डोरा गोल्डकॉर्न ने लिखा था, 'बाड़े के उस कठोर, त्रासदीपूर्ण जीवन में जिस दिन मेरा अपने संगठन से संपर्क स्थापित हुआ, वह दिन मेरे लिए सबसे प्रसन्नता पूर्ण दिनों में से एक था।'

1942 आने तक विभिन्न नौजवान संगठन एक 'फासीवाद विरोधी ब्लॉक' गठित कर चुके थे। इसके घोषणापत्र में नाज़ी कब्ज़े के खिलाफ़ सामान्य माँगों और सशस्त्र फासीवाद विरोध के आधार पर युद्ध पूर्व के पॉपुलर फ्रंट के विचार के अनुसार सभी प्रगतिशील शक्तियों के राष्ट्रीय मोर्चे की अपील थी। फासीवाद विरोधी ब्लॉक ने अपने अख़बार 'डेर रूफ़' के दो अंक भी प्रकाशित किये थे, जिनमें नाज़ियों के खिलाफ़ जारी सोवियत प्रतिरोध की प्रशंसा करते हुए बाड़े वासियों से लाल सेना द्वारा आसन्न मुक्ति तक आशा बनाये रखने का आह्वान भी था। इस ब्लॉक के मुख्य नेता स्पेन में फासिस्टों के खिलाफ इंटरनेशनल ब्रिगेड में लड़ चुके कम्युनिस्ट पिंकस कार्टिन थे। लेकिन जून 1942 में पिंकस कार्टिन की हत्या और नौजवान कम्युनिस्टों के भारी दमन से यह ब्लॉक निष्क्रिय हो गया। इसके कुछ महीने बाद यहूदी लड़ाकू संगठन का निर्माण हुआ, जिसने विभिन्न प्रतिरोधी कार्रवाइयाँ शुरू कीं, जिसमें नाज़ियों के सहयोगी यहूदी पुलिसवालों पर हमले भी शामिल थे। इस वक्त तक बड़ी तादाद में बाड़े से यहूदियों को यातना केन्द्रों में ले जाने का काम भी शुरू हो चुका था। 18 जनवरी 1943 को ऑश्विट्ज़ के यातना केन्द्र में ले जाये जाते कैदियों में मिलकर संगठन के योद्धाओं ने नाज़ी सैनिकों पर हमला बोल दिया जिसमें कई नाज़ी सैनिक मारे गए और कुछ कैदी भागने में सफल हुए।

कुछ समय बाद जब यह स्पष्ट हो चुका था कि हिटलर का इरादा सभी यहूदियों का सफ़ाया करने का था तो बाड़े में अगली नाज़ी कार्रवाई के समय विद्रोह का फैसला किया गया। 19 अप्रैल को एसएस जनरल स्ट्रूप ने 5 हज़ार सैनिकों के साथ बाड़े में रह रहे यहूदियों के अन्तिम सफाये के लिए जब वहाँ प्रवेश किया तो इस हथियारबन्द प्रशिक्षित फ़ौज के खिलाफ़ 220 विद्रोहियों ने मात्र पिस्तौलों और मोलोतोव कॉकटेल के साथ छतों, तहखानों, आदि से आक्रमण शुरू कर दिया जिसमें काफी नाज़ी सैनिक मारे गये। बौखलाये नाज़ियों ने लड़ने के बजाय प्रतिरोध के केन्द्रों को व्यवस्थित रूप से एक-एक कर आग जलाकर राख करना शुरू किया। एक विद्रोही के शब्दों में - 'हम फासिस्टों से नहीं, आग की लपटों से पराजित हुए।' हालाँकि अप्रैल 1943 के अन्त तक सभी विद्रोही समूह एक साथ काम करने का संयोजन खो चुके थे फिर भी नेतृत्वकारी समूह द्वारा घिर जाने पर 8 मई को सामूहिक आत्महत्या कर लिये जाने तक व्यापक प्रतिरोध जारी रहा। 16 मई तक पूरा बाड़ा खण्डहर बनाया जा चुका था और मात्र 40 विद्रोही ही वहाँ से जीवित निकल पाने में कामयाब हुए जिनमें से कई ने बाद में 1944 में वारसा शहर की नाज़ी विरोधी आम बग़ावत में भी भाग लिया और अपना बलिदान दिया।

इस भयानक संघर्ष के बीच भी ये नौजवान विद्रोही अपने समाजवादी विचारों-आदर्शों पर अडिग रहे। भीषण लड़ाई के बीच भी 1 मई 1943 को मई दिवस का आयोजन एक उल्लेखनीय घटना थी। इस मई दिवस के आयोजन में भाग लेने वाले मारेक एडेलमान ने इसका वर्णन इन शब्दों में किया है -

'हम जानते थे कि उस दिन पूरी दुनिया में मई दिवस मनाया जा रहा था और हर जगह सार्थक, सशक्त शब्द बोले जा रहे थे। लेकिन कभी भी 'इंटरनेशनल' इतनी भिन्न, इतनी त्रासद स्थितियों में नहीं गाया गया होगा जबकि एक पूरा राष्ट्र मृत्यु का शिकार हो रहा था। जले हुए खण्डहरों में गीत के बोल गुंजायमान हो रहे थे, ये बता रहे थे कि बाड़े में मौजूद समाजवादी नौजवान अब भी लड़ रहे

(पेज 12 पर जारी)

सरकारी आँकड़ों की हवाबाज़ी और अर्थव्यवस्था की ख़स्ताहाल असलियत

(पेज 1 से आगे)

स्थापित की गयीं। बताया गया कि इससे संकटग्रस्त उद्योगों को नये अधिक पूँजी व प्रभावी प्रबंधन वाले मालिकाने में हस्तांतरित करने से पुनर्जीवन मिलेगा, पूँजी का बेहतर प्रयोग होगा और उद्योगों के पुनर्जीवन से श्रमिकों के रोज़गार भी सुरक्षित होंगे। पर नतीजा क्या हुआ? अब तक जो कर्जदार कम्पनियाँ इन नई अदालतों में पुनर्जीवन के लिए भेजी गयीं हैं उनमें से इलेक्ट्रो स्टील या बिनानी सीमेंट जैसे कुछ गिने-चुने ही हैं जिनके लिए उनमें लगी कुल पूँजी तो दूर रही, सिर्फ बैंकों के बकाया कर्ज की राशि से भी बहुत कम अर्थात लगभग औने-पौने दामों पर कुछ खरीदार प्राप्त हुए हैं, और उनके पुनर्जीवन की कोई संभावना अभी भी शेष है, यद्यपि उसमें भी अभी क़ानूनी विवादों के लम्बे चलने की शंका बनी हुई है। शेष अधिकांश ऋणग्रस्त उद्योग इन दामों पर भी कोई खरीदार नहीं पा रहे हैं और उनकी ज़मीन, इमारतों, मशीनों, लेनदारियों को कबाड़ के दामों पर बेचकर उन्हें कब्र में अंतिम रूप से दफना देने का काम फ़िलहाल जारी है। इकोनॉमिक टाइम्स की 20 अप्रैल की रिपोर्ट के अनुसार दिवालिया अदालत में गयी कम्पनियों में से 81 को अब तक ऐसे ही कबाड़-भंगार में बेचकर बन्द किया जा चुका है तथा और 100 से अधिक इसी कगार पर पहुँच चुकी हैं। दूसरी ओर, अब तक एक ऋणदाता कम्पनी का भी पुनर्जीवन अंतिम मंज़िल तक नहीं पहुँच पाया है। अभी ऐसी और जो कम्पनियाँ भी दिवालिया अदालत में हैं, अब तक के तजुर्बे से उनके परिणाम का भी अंदाज़ा लगाया जा सकता है।

पर यह सब किस कीमत पर हो रहा है? एक कम्पनी आलोक इंडस्ट्रीज का उदाहरण लेते हैं। लगभग 12 हज़ार नियमित कर्मचारियों सहित 18 हज़ार कुल कर्मियों वाली इस कम्पनी पर बैंकों का 29500 करोड़ रुपया बकाया था। साथ ही इसके दो लाख शेयरधारकों की पूँजी भी लगी थी। अनुमानतः कुल पूँजी कम से कम साठ-सत्तर हज़ार करोड़ रही होगी। पर कई प्रयासों के बाद इसके लिए रिलायंस व जेएम फाइनैंशल ने 5050 करोड़ रुपये की अधिकतम बोली लगाई जिसे ऋणदाता बैंकों ने स्वीकार नहीं किया। अब दिवालिया कानून में समाधान की 270 दिन की निश्चित अवधि 14 अप्रैल को पूरी हो चुकी है और इस कम्पनी की सम्पत्तियों को भंगार में बेचकर अब इसे कब्र में दफना दिया जायेगा, तथा इसके 18 हज़ार श्रमिक बेरोज़गार हो जायेंगे। श्रमिकों के शोषण की झलक पाने के लिए यह तथ्य भी जानने लायक है कि इतनी बड़ी कम्पनी का 18 हज़ार कर्मियों पर सालाना खर्च 283 करोड़ ही था - औसतन 1.45 लाख सालाना; इसमें से भी प्रबन्धकों को निकाल दें तो शेष श्रमिकों को दिये जाने वाले मामूली वेतन की कल्पना की जा सकती है। पर पूँजीवादी व्यवस्था और उसकी मैनेजिंग कमेटी मोदी सरकार द्वारा दिये गये 'समाधान' ने इन 18 हज़ार श्रमिकों, उनके परिवारों तथा इनके सहारे चलने वाले छोटे काम-धंधे वालों से जीवन का वह सहारा भी छीन लिया है। साथ ही इस कम्पनी को माल सप्लाई करने वाले कई लघु उद्योगों में जिनकी नौकरी चली जाएगी, वह गिनती हमें मालूम नहीं। इसी तरह की और सब बन्द हो रही कम्पनियों के कितने श्रमिक अपनी जीविका खो चुके हैं या खोने जा रहे हैं, उसकी तादाद बहुत बड़ी है।

गहराता ऋण संकट

लेकिन क्या इससे ऋण संकट की स्थिति में कोई सुधार आ रहा है? इकरा और क्रिसिल दोनों प्रमुख भारतीय रेटिंग एजेंसियों के अनुसार बैंकों के कर्ज़ डूबने का सिलसिला अभी और तेज होगा, इस संकट का शिखर अभी दूर है! कुल एनपीए बैंकों द्वारा दिए कुल कर्ज़ के साढ़े 11% तक पहुँचने का अनुमान है। तीसरी कम्पनी केयर रेटिंग्स ने 31 मार्च 2017 को 20 लाख करोड़ रुपये का कुल कर्ज़ वाली 2314 कम्पनियों का एक विश्लेषण किया है। इसके अनुसार 4.78 लाख करोड़ कर्ज़ अर्थात कुल कर्ज़ का 24% वाली 578 कम्पनियों का अप्रैल-दिसंबर 2017 की अवधि का ब्याज कवरेज अनुपात 1 से कम था अर्थात इनका कुल मुनाफ़ा इनकी ब्याज की देनदारी से भी कम था। आसानी से समझा जा सकता है कि इनमें से ज्यादा के कर्ज़ के डूब जाने की पूरी सम्भावना है। साथ ही बैंकों में बहुत सारा छिपा एनपीए भी मौजूद है। सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों की स्थिति तो अधिक स्पष्ट है लेकिन बेहतर मीडिया प्रबन्धन वाले निजी बैंकों में भारी छिपा एनपीए सामने आ रहा है। रिज़र्व बैंक की ऑडिट में पाया गया है कि एचडीएफसी, आईसीआईसीआई, यस बैंक, कोटक महिंद्रा और इंडस इंड बैंक सभी में पाया गया है कि पिछले दोनों वर्षों में इन्होंने गलत खाते दर्शाकर अपने एनपीए छिपाये थे और इनकी वास्तविक मात्रा कुछ मामलों में तो घोषित मात्रा के दोगुनी तक पायी गयी। इससे भी स्पष्ट है कि डूबे कर्ज़ की समस्या सिर्फ सार्वजनिक बैंकों की नहीं बल्कि पूरी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के संकट का परिणाम है। स्थिति इतनी विकट है कि कुछ मामलों में तो रिज़र्व बैंक ने बैंकों को यह भी छूट दी है कि वे अपना पूरा घाटा एक साथ घोषित न करें, बल्कि उसे चार तिमाहियों में समायोजित कर दिखायें।

निवेश कहाँ से आये?

दिवालिया कानून की प्रक्रिया से इन कम्पनियों का पुनरुद्धार क्यों सम्भव नहीं हो रहा है, इसके लिए अभी की आर्थिक स्थिति में निवेश के माहौल को समझना आवश्यक है। सेंटर फ़ॉर मॉनीटरिंग इंडियन इकोनॉमी द्वारा प्रकाशित आंकड़ों के अनुसार मार्च 2018 में ख़त्म वित्तीय वर्ष में विभिन्न कम्पनियों द्वारा 7 लाख 63 हज़ार करोड़ रुपये की पूँजी निवेश वाली पूर्व योजनाओं के प्रोजेक्ट रद्दी की टोकरी में डाल दिये गये; इनमें से 40% अर्थात 3 लाख 33 हज़ार करोड़ तो अंतिम 3 महीने में ही रद्द हुए। अगर अर्थव्यवस्था में वृद्धि की 'हरी कोंपलें' उगती नजर आ रही हैं तो ऐसा क्यों? क्यूज़ेड डॉट कॉम में प्रकाशित इंडिया रेटिंग्स के मुख्य अर्थशास्त्री देवेंद्र पंत के बयान के अनुसार 'कुछ वर्ष पहले तक प्रोजेक्ट में देरी की वजह सही समय पर नियामकों की अनुमति न मिलना था। पर अब पूर्व निर्धारित प्रोजेक्ट इसलिए रद्द किये जा रहे हैं क्योंकि धीमी आर्थिक वृद्धि के कारण बाज़ार में माँग का अभाव है।' अर्थात मोदी के 'ईज़ ऑफ़ डूइंग बिजनेस' में पूँजीपतियों को श्रम क़ानूनों सहित सभी तरह के नियम-कायदों में दी जा रही तमाम ढील के बावजूद माँग की कमी के चलते नया निवेश ठप है, खास तौर पर स्टील और विद्युत क्षेत्रों की कम्पनियों पर भारी दबाव है। वैसे भी कम लागत पर अधिकतम उत्पादन के लिए स्थाई पूँजी में भारी निवेश की पूँजीवादी प्रतियोगिता के कारण भारतीय कॉर्पोरेट क्षेत्र का कर्ज़ पिछले वर्षों के मुकाबले अपने सर्वोच्च स्तर पर है जिसे चुकाने की क्षमता गिरती लाभप्रदता की वजह से प्रभावित है। पूर्व निर्धारित निवेश योजनाओं को रद्द करती कम्पनियाँ संकटग्रस्त कम्पनियों के पुनरुद्धार में रुचि कैसे ले सकती हैं?

बढ़ती बेरोज़गारी

इस आर्थिक स्थिति का ही परिणाम है कि कुछ वर्ष पहले तक जहाँ हम रोज़गार सृजन की गिरती दर की चर्चा कर रहे थे वहाँ अब वास्तविक स्थिति कुल रोज़गार की गिरती संख्या में परिवर्तित हो चुकी है। रिज़र्व बैंक और KLEMS ने संयुक्त रूप से 2015-16 तक का रोज़गार डाटा 27 मार्च 2018 को जारी किया है। इसके अनुसार 2012-13, 2014-15 और 2015-16 अर्थात अंतिम 4 में से 3 वर्षों में देश में कुल रोज़गार की तादाद घटी है। 2016 के ही पाँचवे रोज़गार सर्वेक्षण के अनुसार देश में सिर्फ 60% लोग ही ऐसे थे जो साल भर रोज़गार पा सके थे। 40% अर्थात हर 5 में से 2 तलाश के बावजूद आंशिक रोज़गार पा सके थे या बिल्कुल नहीं। इसकी मुख्य वजह है कि कृषि में स्थाई पूँजी में निवेश (यंत्रीकरण, विद्युतीकरण) बढ़ने से उसमें 2005-06 से ही श्रम शक्ति की जरुरत अर्थात कुल रोज़गार की तादाद निरंतर कम हो रही है। लेकिन कुछ वर्षों तक कृषि से फालतू हुए श्रमिक उद्योग या सेवा क्षेत्र, खास तौर पर निर्माण क्षेत्र, में खप जा रहे थे हालांकि इन क्षेत्रों में मिलने वाली मजदूरी बमुश्किल जीने लायक थी। लेकिन अब उद्योग-सेवा क्षेत्र भी इतने नये रोज़गार सृजित नहीं कर रहे कि कृषि से अतिरिक्त हुए श्रमिकों को खपा सकें। उपरोक्त वर्षों में रोज़गार में यह गिरावट तब थी जब अर्थव्यवस्था में तेज वृद्धि बताई जा रही थी। इसके बाद के दो सालों में तो नोटबंदी और जीएसटी के असर से बड़ी मात्रा में निर्माण, उद्योग, सेवा क्षेत्रों में करोड़ों नौकरियां कम होने की बात पहले ही जगजाहिर है।

साथ ही बेरोज़गारों की भारी फ़ौज के चलते माँग और पूर्ति के नियम से श्रम शक्ति का बाजार मूल्य भी गिरा है। अभी जो रोज़गार हैं भी वे स्थाई नहीं बल्कि उससे 50-60% कम मजदूरी वाले ठेका/अस्थाई रोज़गार हैं। 22 मार्च की मिंट की रिपोर्ट के अनुसार 1997-98 में संगठित क्षेत्र के विनिर्माण उद्योग में सिर्फ 16% ठेका श्रमिक थे, 2014-15 में 35% हो गए, अब मोदी सरकार ने तो इसको और जोर से बढ़ावा देना शुरू किया है। अर्थात इन 17 वर्षों में तमाम तेज वृद्धि के दावों के बीच नियमित श्रमिकों की तादाद में सिर्फ आधा प्रतिशत सालाना वृद्धि हुई। कुछ उद्योगों में तो अब ठेका श्रमिक आधे से भी ज्यादा हैं। वजह - ठेका श्रमिकों को नियमित श्रमिकों से औसतन 60% कम मजदूरी दी जाती है।

साफ़ है कि इस स्थिति में उपभोग माँग और उत्पादक शक्तियों में निवेश माँग के दोनों स्रोतों के विस्तार की सम्भावनाएँ बहुत कम हैं। इससे हम समझ सकते हैं कि पूँजीवाद के अनिवार्य परिणाम 'अति-उत्पादन' के संकट ने उद्योग के एक बड़े हिस्से को दिवालिया कर उसमें लगी स्थाई पूँजी (उत्पादक शक्ति या क्षमता) को नष्ट कर दिया है, जिससे शेष जीवित बचे पूँजीपतियों को एक तात्कालिक जीवनदान मिला है और उनकी स्थापित उत्पादन क्षमता का प्रयोग थोड़ा बढ़ सकता है। इसे ही पूँजीवादी 'अर्थशास्त्री' वृद्धि की 'हरी कोंपलें' बता रहे हैं। किन्तु इसका नतीजा बड़े पैमाने पर बेरोज़गारी है। फिर, यह तात्कालिक राहत की साँस संकट के मूल कारण को समाप्त नहीं करती। पूँजीवाद के आर्थिक नियम से शेष पूँजीपतियों के बीच भी श्रमिकों को कम कर स्थाई पूँजी में अधिक निवेश की यह प्रवृत्ति काम करती ही रहेगी। इसलिए बाजार माँग से अधिक उत्पादन का संकट इससे हल होने वाला नहीं है बल्कि यह शीघ्र ही संकट के एक नये, और भी गहन व मरणांतक दौर को जन्म देगा।

पर्यावरण को लेकर एन.जी.ओ.-पंथियों की थोथी चिन्ताओं से नहीं बचेगी ये धरती

(पेज 9 से आगे)

रोकने के लिए और इसके प्रभाव से लोगों को बचाने के लिए कुछ करता है तो उसे भी मुनाफ़ा कूटने का साधन बना देता है। देखते-देखते हवा और पानी शुद्ध करने वाली मशीनों से बाज़ार पट जाता है, नदियों को साफ़ करने वाली बड़ी-बड़ी मशीनों का उत्पादन होने लगता है, नए जंगल लगाने के नाम पर ठेकेदार और सरकारी अमले-चाकर चांदी काटने लगते हैं। तब कुछ नासमझ, भोले-भले लोगों की मूर्खता पूँजीवादी व्यवस्था के काम आती है। ये संत-महात्मा टाइप लोग आम जनता को मोबिलाइज करके नदियों-तालाबों की सफाई में लग जाते हैं। वे जितना साफ़ करते हैं, पूँजीवादी उत्पादन उससे कई गुना अधिक गंदा करता है। इसतरह जनता से मुफ्त वे पूँजीवाद की गंद साफ़ कराते हैं और जनता को या प्रकृति को इसका कोई लाभ भी नहीं मिलता। ये नेकनीयत कूपमंडूक इस बात को नहीं समझ पाते कि पूरी व्यवस्था ही यदि प्रदूषण के लिए ज़िम्मेदार है तो इस व्यवस्था के भीतर जनशक्ति को जागृत और लामबन्द करके थोडा प्रदूषण अगर वे दूर भी कर लेंगे तो इससे कुछ नहीं होगा, उलटे उनका यह सद्प्रयास शासक वर्ग और इस व्यवस्था के लिए एक स्पीड-ब्रेकर का, एक सेफ्टी-वाल्व का और एक विभ्रम पैदा करने वाले परदे का ही काम करेगा। इतनी शक्ति यदि वे यह प्रचार करने में लगाते कि पर्यावरण-विनाश का मुख्या कारण मुनाफ़े पर टिकी उत्पादन की व्यवस्था है, अतः यदि धरती को बचाना है तो पूँजीवाद को एक गहरी क़ब्र में दफन करना होगा; तो उनका श्रम कुछ सार्थक भी होता।

पर्यावरण विनाश पर पूँजीवाद-साम्राज्यवाद के कुकर्म कटघरे में न आयें, इसके लिए देशी-विदेशी पूँजीपतियों की एजेंसियों और ट्रस्टों से वित्त-पोषित एन.जी.ओ. पृथ्वी दिवस खूब ज़ोर-शोर से मनाते हैं। वे पर्यावरण विनाश के लिए जंगलों के कटने, प्रकृति के अनियंत्रित दोहन, रसायनों पर निर्भर खेती, जीवाश्म ईंधन के इस्तेमाल और फिजूलखर्च उपभोक्ता-संस्कृति आदि की खूब बातें करते हैं, पर यह कत्तई नहीं बताते कि इसके लिए पूँजीपतियों की मुनाफ़ाखोरी और पूँजीवादी व्यवस्था ज़िम्मेदार है। पूँजीपतियों की "दानशीलता" के भरोसे चलने वाले कुलीन भिखमंगों की ये संस्थाएँ भला ऐसा कर भी कैसे सकती हैं? "पर्यावरण-सुधारवाद" का खोमचा सजाये ये लोग दरअसल पूँजीवादी विभ्रम को ही माल के रूप में बेचते हैं। ये पूँजीवादी व्यवस्था की सुरक्षा-पंक्ति, धोखे की टट्टी और स्पीड-ब्रेकर का काम करते हैं। यह एन.जी.ओ. ब्रांड प्रगतिशीलता बिना मेहनताना दिये पूँजीवाद की गन्दगी जनता से साफ करवाती है।

पर्यावरण का सवाल सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था से जुड़ा हुआ है। पूँजीवादी मुनाफ़े की अंधी हवस और होड़ उत्पादक मनुष्य के साथ ही प्रकृति को भी निचोड़ रही है। धरती के पर्यावरण को बचाना है तो पूँजीवाद को दफनाना होगा। पूँजीवादी समाज में जनता को यदि व्यवस्था-सजग बनाए बिना "पर्यावरण-सजग" बनाया जाएगा तो होगा यह कि पूँजीवाद द्वारा चारो ओर भर दी गयी गन्दगी को जनता पर्यावरण बचने की चिंता से सराबोर होकर थोड़ा-बहुत साफ़ करती रहेगी, ताकि पूँजीवाद उसे फिर गंदा कर सके। यानि "पर्यावरण-सुधारवाद" से प्रेरित लोग पूँजीवाद को थोडा और 'ब्रीडिंग स्पेस' और 'ब्रीदिंग स्पेस' मुहैया कराने से अधिक कुछ भी नहीं करते। इसीलिये साम्राज्यवादियों और देशी पूँजीपतियों द्वारा वित्त-पोषित एन.जी.ओ. नेटवर्क पर्यावरण को लेकर 'पृथ्वी दिवस' पर इतना चिंतित हो जाता है।

148वें जन्मदिवस (22 अप्रैल) के अवसर पर

मज़दूर वर्ग के महान नेता और शिक्षक लेनिन

व्लादीमिर इल्यीच लेनिन मज़दूर वर्ग के महान नेता, शिक्षक और दुनिया की पहली सफल मज़दूर क्रान्ति के नेता थे। लेनिन के नेतृत्व में सोवियत संघ में पहले समाजवादी राज्य की स्थापना हुई थी, जिसने दुनिया को दिखा दिया कि शोषण-उत्पीड़न के बन्धनों से मुक्त होकर मेहनतकश जनता कैसे-कैसे चमत्कार कर सकती है।

लेनिन का जन्म 22 अप्रैल 1870 को रूस के सिम्बीर्स्क नामक एक छोटे-से शहर में हुआ था। उनके पिता शिक्षा विभाग में अधिकारी थे। उन दिनों रूस में ज़ारशाही का निरंकुश शासन था और मज़दूर तथा किसान आबादी भयंकर शोषण और उत्पीड़न का शिकार थी। दूसरी ओर, पूँजीपति, जागीरदार और ज़ारशाही के अफ़सर ऐयाशीभरी ज़िन्दगी बिताते थे। लेनिन के बड़े भाई अलेक्सान्द्र एक क्रान्तिकारी संगठन के सदस्य थे जिसने रूसी बादशाह (जिसे ज़ार कहते थे) को मारने की कोशिश की थी। लेनिन 13 वर्ष के थे तभी अलेक्सान्द्र को ज़ार की हत्या के प्रयास के जुर्म में फाँसी पर चढ़ा दिया गया था। उनकी बड़ी बहन आन्ना को भी गिरफ़्तार कर जेल में डाल दिया गया था। इन घटनाओं ने उनके दिलो-दिमाग़ पर गहरा असर डाला और निरंकुश ज़ारशाही के प्रति उनके मन में गहरी नफ़रत भर दी। लेकिन साथ ही उन्हें यह भी लगने लगा कि अलेक्सान्द्र का रास्ता रूसी जनता की मुक्ति का रास्ता नहीं हो सकता।

क़ानून की पढ़ाई करने के दौरान उन्होंने विद्यार्थियों के विरोध प्रदर्शनों में हिस्सा लेना शुरू किया और कार्ल मार्क्स तथा फ्रेडरिक एंगेल्स की रचनाओं से उनका परिचय हुआ। रूसी क्रान्तिकारी विचारक प्लेखानोव द्वारा बनाये गये 'श्रमिक मुक्ति दल' में वह सक्रिय हुए। फिर वे रूस के सबसे बड़े औद्योगिक शहर सेण्ट पीटर्सबर्ग आकर मज़दूरों को संगठित करने के काम में जुट गये। उन्होंने अपने साथियों के साथ मिलकर मज़दूरों के कई अध्ययन मण्डल शुरू किये और फिर 'श्रमिक मुक्ति के लिए संघर्ष की सेण्ट पीटर्सबर्ग लीग' नामक संगठन में सबको एकजुट किया। लेनिन ने उस समय क्रान्तिकारी आन्दोलन में फैले ग़लत विचारों के ख़िलाफ़ संघर्ष चलाया और स्थापित कर दिया कि एक क्रान्तिकारी पार्टी की अगुवाई में मज़दूर क्रान्ति के द्वारा ही रूसी जनता की मुश्किलों का अन्त हो सकता है। उन्होंने कहा कि मज़दूरों को केवल अपनी तनख़्वाह बढ़वाने और कुछ सुविधाएँ हासिल करने की लड़ाई में नहीं उलझे रहना चाहिए बल्कि उन्हें सत्ता अपने हाथ में लेने के लिए संघर्ष करना चाहिए।

लेनिन ने बताया कि क्रान्ति करने के लिए मज़दूर वर्ग की एक क्रान्तिकारी पार्टी का होना ज़रूरी है। इस पार्टी की रीढ़ ऐसे कार्यकर्ता होने चाहिए जो पूरी तरह से केवल क्रान्ति के लक्ष्य को ही समर्पित हों। उन्होंने ऐसे कार्यकर्ताओं को पेशेवर क्रान्तिकारी कहा। इस पार्टी का निर्माण एक क्रान्तिकारी मज़दूर अख़बार के माध्यम से शुरू होगा और यह जनता के बीच अपनी जड़ें गहरी जमा लेगी। उन्होंने कहा कि क्रान्तिकारी पार्टी पूरी तरह खुली होकर काम नहीं कर सकती, उसका केन्द्रीय ढाँचा गुप्त रहना चाहिए ताकि पूँजीवादी सरकार उसे ख़त्म नहीं कर सके। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'क्या करें' में उन्होंने सर्वहारा वर्ग की नये ढंग की क्रान्तिकारी पार्टी के सांगठनिक उसूलों को प्रस्तुत किया, जिसके अलग-अलग पहलुओं को विकसित करने का काम वे आख़िरी समय तक करते रहे।

लेनिन ने अपने विश्लेषण से यह दिखाया कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद की अन्तिम अवस्था है और सर्वहारा क्रान्तियाँ साम्राज्यवाद के युग का अन्त कर देंगी। उन्होंने यह भी बताया कि बड़े-बड़े पूँजीवादी देशों ने ग़रीब और पिछड़े देशों को लूटकर उसके एक हिस्से से अपने देश के मज़दूरों को कुछ सुविधाएँ दे दी हैं। इस वजह से इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी जैसे देशों में मज़दूरों का एक हिस्सा 'अभिजात मज़दूर' बन गया है और अब इसके लिए क्रान्ति का कोई मतलब नहीं रह गया है। ऐसे ही मज़दूरों के बीच नक़ली लाल झण्डे वाली संशोधनवादी पार्टियों का आधार है। लेनिन ने कहा कि पिछड़े देश साम्राज्यवाद की ज़ंजीर की कमज़ोर कड़ियाँ हैं और अब पहले इन्हीं देशों में क्रान्तियाँ होंगी।

क्रान्ति के अपने सिद्धान्त को लेनिन ने अक्टूबर क्रान्ति के ज़रिए साकार कर दिखाया। क्रान्ति के बाद रातोरात भूमि-सम्बन्धी आज्ञापत्र जारी करके ज़मीन पर ज़मींदारों का मालिकाना बिना मुआवज़े के ख़त्म कर दिया गया और ज़मीन इस्तेमाल के लिए किसानों को दे दी गयी, किसानों को लगान से मुक्त कर दिया गया और तमाम खनिज संसाधन, जंगल और जलाशय जनता की सम्पत्ति हो गये। सभी कारख़ाने राज्य की सम्पत्ति बन गये और तमाम विदेशी क़र्ज़े ज़ब्त कर लिये गये।

लेनिन के नेतृत्व में मज़दूरों का राज क़ायम होते ही सारी दुनिया के लुटेरे पूँजीपति बौखला उठे। मज़दूरों के राज को ख़ून की नदियों में डुबो देने के लिए जनरल देनिकिन, कोल्चाक, व्रांगेल और पेतल्यूरा जैसे ज़ारशाही के पुराने जनरलों को फ़ौज-फाटे से लैस करके भेजा गया। इधर-उधर बिखर गये श्वेत गार्डों के दस्ते और क्रान्ति-विरोधियों के विभिन्न गुटों ने जगह-जगह लड़ाई और मार-काट मचा रखी थी। इसी बीच अठारह देशों की सेनाओं ने एक साथ रूस पर हमला बोल दिया। सारे लुटेरों को यक़ीन था कि समाजवादी सत्ता बस कुछ ही दिनों की मेहमान है। मज़दूरों को भला राज-काज चलाना कहाँ आता है। लेकिन लेनिन को मज़दूरों पर अटूट भरोसा था। उनके आह्वान पर, और कम्युनिस्ट पार्टी की अगुवाई में सारे देश के मेहनतकश अपने राज्य की हिफ़ाज़त करने के लिए उठ खड़े हुए। 1917 से 1921 तक रूस में भीषण गृहयुद्ध चलता रहा। लेकिन आख़िरकार शोषकों को कुचल दिया गया और लेनिन की देखरेख में समाजवादी निर्माण का काम ज़ोर-शोर से शुरू हो गया। 1918 में क्रान्ति के दुश्मनों की साज़िश के तहत एक हत्यारी द्वारा चलायी गयी गोलियों से लेनिन बुरी तरह घायल हो गये थे। कुछ सप्ताह बाद वह फिर काम पर लौट आये, लेकिन कभी पूरी तरह स्वस्थ नहीं हो सके। 21 जनवरी 1924 को सिर्फ़ 53 वर्ष की उम्र में लेनिन का निधन हो गया। लेनिन की मृत्यु के बाद जोसेफ़ स्तालिन ने उनके काम को आगे बढ़ाया। उन्होंने ही मार्क्सवादी विचारधारा को मार्क्सवाद-लेनिनवाद का नाम दिया।

सर्वहारा वर्ग के महान शिक्षकों — मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन और माओ त्से-तुङ के विचार पूँजीवाद और साम्राज्यवाद को ख़त्म कर समाजवाद क़ायम करने के संघर्ष में मेहनतकश जनता को राह दिखाते रहेंगे।

लेनिन के जन्मदिवस (22 अप्रैल) पर बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की कविता के कुछ अंश

लेनिन की मृत्यु पर कैंटाटा*

1.
जिस दिन लेनिन नहीं रहे
कहते हैं, शव की निगरानी में तैनात एक सैनिक ने
अपने साथियों को बताया: मैं
यक़ीन नहीं करना चाहता था इस पर।
मैं भीतर गया और उनके कान में चिल्लाया:
'इलिच
शोषक आ रहे हैं।' वह हिले भी नहीं।
तब मैं जान गया कि वो जा चुके हैं।

2.
जब कोई भला आदमी जाना चाहे
तो आप कैसे रोक सकते हैं उसे?
उसे बताइये कि अभी क्यों है उसकी ज़रूरत।
यही तरीक़ा है उसे रोकने का।

3.
और क्या चीज़ रोक सकती थी भला लेनिन को
जाने से?

4.
सोचा उस सैनिक ने
जब वो सुनेंगे, शोषक आ रहे हैं
उठ पड़ेंगे वो, चाहे जितने बीमार हों
शायद वो बैसाखियों पर चले आयें
शायद वो इजाज़त दे दें कि
उन्हें उठाकर ले आया जाये, लेकिन
उठ ही पड़ेंगे वो और आकर
सामना करेंगे शोषकों का।

5.
जानता था वो सैनिक, कि लेनिन
सारी उमर लड़ते रहे थे
शोषकों के ख़िलाफ़

6.
और वो सैनिक शामिल था
शीत प्रासाद पर धावे में,
और घर लौटना चाहता था
क्योंकि वहाँ बाँटी जा रही थी ज़मीन
तब लेनिन ने उससे कहा था:
अभी यहीं रुको !
शोषक अब भी मौजूद हैं।
और जब तक मौजूद है शोषण
लड़ते रहना होगा उसके ख़िलाफ़
जब तक तुम्हारा वजूद है
तुम्हें लड़ना होगा उसके ख़िलाफ़।

7.
जो कमज़ोर हैं वे लड़ते नहीं। थोड़े मज़बूत
शायद घंटे भर तक लड़ते हैं।
जो हैं और भी मज़बूत वे लड़ते हैं कई बरस तक।
सबसे मज़बूत होते हैं वे
जो लड़ते रहते हैं ताज़िन्दगी।
वही हैं जिनके बग़ैर दुनिया नहीं चलती।

9.
जब लेनिन नहीं रहे और
लोगों को उनकी याद आई
जीत हासिल हो चुकी थी, मगर
देश था तबाहो-बर्बाद
लोग उठकर बढ़ चले थे, मगर
रास्ता था अँधियारा
जब लेनिन नहीं रहे
फुटपाथ पर बैठे सैनिक रोये और
मज़दूरों ने अपनी मशीनों पर काम बंद कर दिया
और मुट्ठियाँ भींच लीं।

10.
जब लेनिन गये,
तो ये ऐसा था
जैसे पेड़ ने कहा पत्तियों से
मैं चलता हूँ।

11.
तब से गुज़र गये पंद्रह बरस
दुनिया का छठवाँ हिस्सा
आज़ाद है अब शोषण से।
'शोषक आ रहे हैं!': इस पुकार पर
जनता फिर उठ खड़ी होती है
हमेशा की तरह।
जूझने के लिए तैयार।

12.
लेनिन बसते हैं
मज़दूर वर्ग के विशाल हृदय में,
वो थे हमारे शिक्षक।
वो हमारे साथ मिलकर लड़ते रहे।
वो बसते हैं
मज़दूर वर्ग के विशाल हृदय में।

(1935)

* कैंटाटा – वाद्य संगीत के साथ गायी जाने वाली संगीत रचना, जो प्राय: वर्णनात्मक और कई भागों में होती है (कुछ-कुछ हमारे बिरहा की तरह)। इस कैंटाटा के संगीत को अंतिम रूप दिया था ब्रेष्ट के साथी और महान जर्मन संगीतकार हान्स आइस्लर ने। इस रचना का आठवाँ भाग 'इंक़लाबी की शान में क़सीदा' ब्रेष्ट ने पहलेपहल 1933 में, गोर्की के उपन्यास 'माँ' पर आधारित अपने नाटक के लिए लिखा था।

अनुवाद: सत्यम

सोवियत संघ में सांस्कृतिक प्रगति - एक जायज़ा

(दूसरी किश्त)

पिछली किश्त में हमने सोवियत संघ में पुस्तकालयों की स्थापना और सोवियत सरकार की तरफ़ से इसके फैलाव और आम लोगों तक पहुँचाने के लिए उठाये गये क़दमों के बारे में जाना था। और साथ ही देखा था कि भारत में इसके मुकाबले पुस्तकालयों के विस्तार के लिए प्रयास बहुत ही धीमे रहे हैं और पिछले कुछ समय से तो केन्द्र और राज्य सरकारों का इस ओर बिल्कुल ही ध्यान नहीं है। इस बार हम कला के संस्थानों का जायज़ा लेंगे और इसको भी भारत की स्थिति के मुकाबले में समझने की कोशिश करेंगे।

पहले हम नाटकघरों और फ़िल्म प्रोजेक्टरों एवं फ़िल्म स्क्रीनों की बात करेंगे। 1917 की समाजवादी क्रान्ति को अंजाम देने वाली बोल्शेविक पार्टी कला की अहमियत के प्रति पूरी सचेत थी। वह जानती थी कि कला लोगों के आत्मिक जीवन को ऊँचा उठाने, उनको सुसंकृत बनाने में कितनी सहायक होती है। अभी जब सिनेमा अपने शुरुआती दौर में ही था, तो हमें उसी समय पर ही लेनिन का वह प्रसिद्ध कथन मिलता है, जो उन्होंने लुनाचार्स्की के साथ अपनी मुलाक़ात के दौरान कहा था, "सब कलाओं में से सिनेमा हमारे लिए सबसे ज़्यादा महत्वपूर्ण है।" क्रान्ति के फ़ौरन बाद ही से सोवियत सरकार की तरफ़ से बोल्शेविक पार्टी की इस समझ पर अमल का काम भी शुरू हो गया। जल्द ही ये प्रयास किये गये कि पूरे सोवियत संघ में संस्कृति के केन्द्रों का विस्तार किया जाये।

हासिल आँकड़ों के मुताबिक़ साल 1914 में (1956 की सीमाओं के मुताबिक़, न कि 1914 के अकेले रूस की सीमाओं के मुताबिक़) रूस में कुल 172 नाटकघर थे। इनमें घुमन्तू नाटकघर कोई नहीं था। 1949 में यह संख्या बढ़कर 696 नाटकघरों तक पहुँच गयी और 1956 में 508 नाटकघर सोवियत संघ में मौजूद थे जिनमें से 423 तो अचल (स्थायी) थे, जबकि 85 नाटकघर घुमन्तू थे। घुमन्तू नाटकघर स्थापित करने के पीछे मक़सद यह था कि इनको दूर-दराज़ के इलाक़ों में, दुर्गम इलाक़ों में या फिर युद्ध के मोर्चों पर भी भेजा जा सकता था। यह सवाल उठना लाज़िमी है कि 1949 में यदि 696 नाटकघर थे तो 1956 में यह संख्या घटकर 508 क्यों रह गयी? यहाँ हम सोवियत नागरिकों के सामाजिक जीवन के एक अन्य दिलचस्प पहलू से वाबस्ता होते हैं। नाटकघरों की स्थापना और उनमें होते नाटक कोई एकतरफ़ा चीज़ नहीं थी। लोग इन नाटकों को देखते और सराहते थे और साथ ही खराब खेले गये नाटकों को दर्शकों की नापसन्दगी का सामना भी करना पड़ता था। इस तरह सोवियत संघ में नाटकों का मंचन एक जीवन्त अमल था, जिसमें दर्शक भी बराबर के भागीदार थे। इसीलिए साल 1948-49 के दौरान कुछ नाटकघरों का विस्तार होने से और कुछ नाटकघर जो कि दर्शकों के सौन्दर्यात्मक स्तर पर खरे नहीं उतर सके थे, उनके बन्द हो जाने से हमें नाटकघरों की इस कुल संख्या में गिरावट नज़र आती है। संख्या में इस गिरावट का लोगों की रुचि पर कोई ख़ास असर नहीं पड़ा था, बल्कि नाटकघरों में जाने वाले लोगों की संख्या पहले की अपेक्षा बढ़ती गयी। जैसे कि 1948 में नाटकघरों में जाने वाले लोगों की संख्या 5.90 करोड़ थी जो कि 1955 में बढ़कर 7.8 करोड़ हो गयी।

जिस तरह दूर-दराज़ के और रूस से बाहर के इलाक़ों में भी पुस्तकालयों का प्रसार किया गया था। उसी तरह सोवियत सरकार की तरफ़ से ऐसे इलाक़ों में भी नाटकघरों का विस्तार किया गया जिनमें या तो क्रान्ति से पहले कोई नाटकघर था ही नहीं, या फिर बहुत कम थे। मिसाल के तौर पर तुर्कमेनिस्तान, आर्मीनिया, ताजीकिस्तान, किरग़ीज़स्तान में 1914 में एक भी नाटकघर नहीं था। इन देशों में 1946 तक क्रमवार 12, 28, 16 और 10 नाटकघर स्थापित किये जा चुके थे। जबकि उज़्बेकिस्तान, कज़ाख़स्तान, जार्जिया, अज़रबैजान, लिथुआनिया और लातविया में 1914 में क्रमवार 1, 2, 3, 2, 1 और 2 नाटकघर थे जो कि 1946 में बढ़कर क्रमवार 47, 41, 47, 28, 11 और 13 हो गये। एक अन्य दिलचस्प बात यह है कि कुल नाटकघरों में से कुछ तो ख़ास बच्चों और किशोरों के लिए ही थे। जैसे कि 1954 में कुल 513 नाटकघरों में से 101 ख़ास बच्चों और किशोरों के लिए ही आरक्षित थे।

अब बात करते हैं फ़िल्म प्रोजेक्टरों की। सोवियत संघ में साल 1950 में कुल 21,600 सिनेमाघर थे जिनमें कुल सीटें 30 लाख थीं। यह संख्या पाँच सालों में ही, यानी 1955 तक बढ़कर 33,300 सिनेमाघर और 45 लाख सीटें हो गयीं। सोवियत संघ की यदि 1956 की सीमाओं को मानकर चलें तो यहाँ 1914 में कुल 1510 फ़िल्म प्रोजेक्टर थे। यह संख्या 1933 में 27,578 और 1954 तक 52,288 तक हो गयी थी। यहाँ एक और बात ग़ौरतलब है कि 1941-45 तक, यानी युद्ध के समय में, फ़िल्म प्रोजेक्टरों की संख्या आधी रह गयी थी। यानी वह युद्ध में तबाह हो गये थे। सोवियत सरकार की यह नीति थी कि पुस्तकालय सोवियत संघ के हर क्षेत्र में पहुँचने चाहिए न कि केवल रूस या युक्रेन (जो कि सोवियत संघ के दो सबसे बड़े भू-भाग थे) में ही केन्द्रित होकर रह जाने चाहिए। यह नीति ज़ारशाही के समय से बिलकुल उल्ट थी, क्योंकि उस वक़्त हर सांस्कृतिक गतिविधि का केन्द्र रूस या युक्रेन का इलाक़ा होता था और उसमें भी रूस का वह इलाक़ा जो यूरोप की सीमाओं के साथ लगता था। एशियाई इलाक़े को बिलकुल अनदेखा किया जाता था, उनको ज़बरदस्ती अपने साथ नत्थी करके रखा जाता था और उनके ऊपर रूसी प्रभुत्व क़ायम करके रखा जाता था। लेकिन क्रान्ति के बाद ये हालात बदले। 1914 में ऐसे कई इलाक़े थे जहाँ या तो एक भी फ़िल्म-प्रोजेक्टर नहीं था (जैसे कि ताजिकिस्तान का इलाक़ा) या फिर 5-6 प्रोजेक्टर ही थे (जैसे कि एस्तोनिया, तुर्कमेनिस्तान, आर्मीनिया, किर्गिज़स्तान, लिथुआनिया, आदि)। लेकिन 1954 तक स्थिति काफ़ी बदली हुई थी। ताजिकिस्तान में 1933 तक 44 और 1954 तक 361 फ़िल्म-प्रोजेक्टर आ चुके थे। यही प्रगति ऊपर गिनाये गये इलाक़ों के मामले में भी थी जिनको भी सैकड़ों की गिनती में फ़िल्म-प्रोजेक्टर प्रदान किये गये थे।

सोवियत सरकार की ओर से सिनेमा को, कला के इस सबसे नये और उन्नत रूप को दिये गये बढ़ावे के चलते अच्छा सिनेमा देखना सोवियत लोगों के जीवन का एक ज़रूरी अंग बनता जा रहा था। मिसाल के लिए, साल 1950 में कुल 1,14,39,65,000 टिकटें बिकी थीं, यानी 114 करोड़ से भी ज़्यादा। पाँच साल के अन्दर ही यह संख्या दो गुना से ज़्यादा बढ़कर साल 1955 में 2,50,54,50,000 तक पहुँच चुकी थी! साल 1959 में सोवियत संघ की आबादी लगभग 20 करोड़ थी। यानी, सोवियत संघ की कुल आबादी में से 25% ऐसी थी जो हर हफ़्ते सिनेमा देखने जा रही थी! सोवियत संघ में अमेरिका या भारत के मुकाबले साल में कम ही फ़िल्में बनती थीं, लेकिन उस वक़्त यह एक आम बात थी। सवाल गिनती का नहीं, गुण का है। ग़ौर करने की बात है कि यदि सोवियत संघ में उस वक़्त कम फ़िल्में बनती थीं तो फिर इतनी टिकटें कैसे बिक जाती थीं ? साफ़ है कि सोवियत संघ में दूसरे देशों की फ़िल्में, जिसमें भारत की फ़िल्में भी शामिल थीं, दिखाने को तरजीह दी जाती थी। यह एक सीधा, सरल सा तर्क है लेकिन यह उन कुत्सा-प्रचारकों को एक अच्छा जवाब है जो सोवियत संघ के ऊपर ये दोष लगाते हैं कि वहाँ पश्चिमी देशों के कला-साहित्य को आने नहीं दिया जाता था।

सोवियत संघ के बारे में ऊपर दिये गये आँकड़ों के बाद अब ज़रा भारत की स्थिति पर एक नज़र डालते हैं। हालाँकि भारत में हमें ऐसी संस्थाओं के बारे में कोई भी सरकारी या आधिकारिक आँकड़े नहीं मिलते। नाट्य-घरों के बारे में भारत के लिए हमें कोई आँकड़े नहीं मिलते। लेकिन यदि सीधे प्रेक्षणों के आधार पर अन्दाज़ा लगाना हो तो कोई अच्छी तस्वीर सामने नहीं आती। मिसाल के तौर पर, इस समय चण्डीगढ़ में टैगोर थियेटर और पंजाब कला भवन, दो ही स्थापित नाट्य-घर हैं। यदि पंजाब की बात करें तो अमृतसर, जालन्धर, पटियाला वग़ैरा में ही कोई नाट्य-घर नज़र आते हैं। लेकिन इसके अलावा बाक़ी पंजाब में स्थिति बंजर ही है। यदि दिल्ली को देखें तो इतने बड़े शहर के लिहाज़ से इनकी संख्या बहुत ही कम है। यानी पंजाब और दिल्ली और इसके आस-पास की करोड़ों की आबादी के लिए भी शायद ही 30-35 नाट्य-घर होंगे! इसी तरह उत्तर प्रदेश की कुल आबादी इस समय 20 करोड़ के लगभग है, यानी जितनी कि सोवियत संघ की आबादी 1955 में थी। इतने बड़े राज्य में बमुश्किल 50 या 60 नाट्य-घर होंगे, और उनमें से भी अनेक की हालत खस्ता है। ऊपर से जो नाट्य-घर हैं भी उनमें भी मेहनतकश आबादी तो दूर, निम्न मध्यम वर्ग के लोग भी शायद ही कभी नाटक देखने जा पाते हैं।

यह बात दुरुस्त है कि सालाना फ़िल्में बनाने के मामले में तो भारत का सिनेमा (बॉलीवुड और अन्य क्षेत्रीय सिनेमा) दुनिया में पहले नम्बर पर है, लेकिन यह सिर्फ़ गिनती के लिहाज़ से है, गुण के लिहाज़ से नहीं! लेकिन इस समय भी सिनेमा स्क्रीन इस देश की आबादी और विस्तार के लिहाज़ से काफ़ी कम हैं। भारत में इस समय कुल सिनेमा स्क्रीन (मल्टीप्लेक्स और सिंगल स्क्रीनों को मिलाकर) 10,000 से कुछ कम हैं। लेकिन इनका फैलाव बहुत असमान है। मिसाल के लिए, यदि हम सिर्फ़ आन्ध्रप्रदेश और केरल को गिनें, तो इन दो राज्यों में ही 4,000 के करीब सिनेमा स्क्रीन हैं। जबकि पूर्वोत्तर में असम को छोड़कर सात राज्यों - अरुणाचल प्रदेश, मिज़ोरम, नगालैण्ड, सिक्किम, त्रिपुरा, मणिपुर, मेघालय में कुल फ़िल्म स्क्रीनों की गिनती सिर्फ़ 27 ही है और इसमें से भी अकेले मणिपुर में 10 स्क्रीन हैं। आबादी के लिहाज़ से स्क्रीनों के घनत्व की बात करें तो स्थिति और भी साफ़ होती है। सोवियत संघ में 1955 में 20 करोड़ की आबादी के पीछे 33,300 फ़िल्म स्क्रीनें थीं, जबकि भारत में इस समय 120 करोड़ की आबादी के पीछे 10,000 स्क्रीनें ही हैं। यानी सोवियत संघ में 10 लाख की आबादी के पीछे 166 स्क्रीनें थीं जबकि भारत में 10 लाख की आबादी के पीछे सिर्फ़ 8 स्क्रीनें ही हैं। घनत्व के मामले में तो अमेरिका में भी साल 2014 तक 10 लाख के पीछे 125 स्क्रीनें ही थीं। लोगों की सिनेमा देखने की रुचि को विचारें तो हम देखते हैं कि साल 2016 में भारत में कुल 220 करोड़ टिकटें बिकी थीं। जबकि सोवियत संघ में 1955 में 250 करोड़ से ज़्यादा टिकटें बिकी थीं। याद रहे कि सोवियत संघ में 1955 के समय की आबादी से भारत की अब की आबादी भी 6 गुना से ज़्यादा है। इतना ज़रूर है कि 1955 में टेलीविज़न की परिघटना अभी आम नहीं हुई थी जबकि आज के भारत में इनकी संख्या काफ़ी ज़्यादा है। लेकिन उस समय सोवियत संघ में यदि टीवी आम होता तो सिनेमा जाने वालों की आबादी बढ़ती या कम होती यह एक कयास की बात हो जायेगी। अभी हमारे पास जो तथ्य हैं, उसी के आधार पर बात करना ठीक होगा। इतना ज़रूर है कि सोवियत समाज में अकेले अपने कमरों में बैठकर टीवी के आगे ध्यान लगाने के बजाय सामाजिक जीवन, सामाजिक मनोरंजन को अधिक प्रोत्साहित किया जाता। भारत में लोगों की सिनेमा तक कम पहुँच की एक वजह सिनेमा की टिकटों का महँगा होना भी है। सोवियत संघ में ऐसा नहीं था। वहाँ पर चूँकि सिनेमा पर किसी का निजी स्वामित्व नहीं था, इसीलिए इससे कोई मुनाफ़ा नहीं कमाया जा सकता था, बल्कि इसका मक़सद ही लोगों तक इस आधुनिक और महान ईजाद को पहुँचाना था। इसीलिए इतने कम समय में ही वहाँ पर सिनेमाघरों का इतना जाल बिछा और लोगों तक इसकी इतनी पहुँच हो सकी।

पुस्तकालयों के बाद हमने सोवियत संघ में क्रान्तिकारी दौर के समय में (स्तालिन की मृत्यु तक) नाट्य-घरों और सिनेमा के क्षेत्र में हुई ज़बरदस्त प्रगति को देखा। इन आँकड़ों के बाद हमने इस स्थिति की भारत के साथ तुलना की और देखा कि कैसे भारत में हम 70 साल से पूँजीवादी रास्ते पर चलकर भी अभी सोवियत संघ के महज़ छत्तीस सालों के क्रान्तिकारी, समाजवादी दौर की उपलब्धियों से भी कितना पीछे हैं। इससे यही साबित होता है कि मानवता की असल बेहतरी, साहित्य-कला की प्रगति की असल बुनियाद सिर्फ़ एक ऐसे समाज में रखी जा सकती है जहाँ पर कि बहुसंख्यक आबादी की रोटी, कपड़ा, मकान जैसी बुनियादी ज़रूरतें पूरी हो चुकी हों। और ऐसा समाज एक समाजवादी समाज ही हो सकता है, ना कि पूँजीवादी समाज जहाँ कि आबादी का बाहुल्य अभी भी अपनी बुनियादी ज़रूरतों की पूर्ति के लिए अपनी ज़िन्दगी का ज़्यादा समय ख़र्च कर देता है। इस लेख के अगले हिस्से में हम सोवियत संघ में हुई सांस्कृतिक प्रगति के एक अन्य पहलू को देखेंगे।

- मानव

फासिस्ट-विरोधी वीरतापूर्ण विद्रोह

(पेज 9 से आगे)

थे, और मृत्यु का सामना करते हुए भी अपने आदर्शों को त्याग नहीं रहे थे।'

आज जब इजराइली ज़ियनवादी खुद गाज़ा में फिलिस्तीनी जनता के साथ नाज़ियों जैसा बरताव कर रहे हैं तब वारसा के यहूदी बाड़े के इन फासीवाद विरोधी योद्धाओं की विरासत बहुत अहम है क्योंकि इन्होने अपना संघर्ष एक सम्प्रदाय के रूप में नहीं बल्कि फासीवाद और पूँजीवाद के खिलाफ अन्तरराष्ट्रीयतावादी विश्वव्यापी संघर्ष के अंग के रूप में संचालित किया था| एक अति शक्तिशाली आततायी के खिलाफ़ इन थोड़े से विद्रोहियों के इस शानदार संघर्ष ने फासिस्टों से लड़ रहे स्पेन के रिपब्लिकनों, फ्रेंच कम्युनिस्टों, उनके पोलिश देशवासियों, यातना केन्द्रों में बन्द यहूदियों से लेकर दुनिया भर के फासिस्ट विरोधियों को प्रेरणा दी थी| उनकी कहानी होलोकॉस्ट की नृशंसता और नाउम्मीदी के बीच उस मानवीय वीरता का शानदार उदाहरण है जो बदतरीन स्थितियों में भी यह मानने को राज़ी नहीं कि आगे बढ़ने का रास्ता बन्द हो चुका है।

अन्तरराष्ट्रीय मज़दूर दिवस (1 मई) के अवसर पर

यह एक गाथा है... पर आप सबके लिए नहीं!

– हावर्ड फ़ास्ट –

वर्ष 1947 के मई दिवस के अवसर पर लिखा गया प्रसिद्ध अमेरिकी उपन्यासकार हावर्ड फास्ट का यह लेख मई दिवस की गौरवशाली परम्पराओं की याद एक ऐसे समय में करता है जब अमेरिका में लम्बे संघर्षों से हासिल मज़दूर अधिकारों पर हमला बोला जा रहा था। आज भारत में देशी-विदेशी पूँजी की मिली-जुली ताक़त ने श्रम पर ज़बरदस्त हमला बोल दिया है। ऐसे में यह लेख आज भारत के मज़दूरों के लिए लिखा गया महसूस होता है, और मई दिवस की यह गाथा उत्साह और जोश से भर देती है। इसका अनुवाद 1946 के नौसेना विद्रोह में शामिल रहे 'मज़दूर बिगुल' के वयोवृद्ध सहयोगी सुरेन्द्र कुमार ने किया था। — सं.

यह गाथा आपमें से बस उनके लिए है जो ज़िन्दगी से प्यार करते हैं और जो आज़ाद इन्सानों की तरह जीना चाहते हैं। आप सबके लिए नहीं, आपमें से बस उनके लिए, जो हर उस चीज़ से नफ़रत करते हैं, जो अन्यायपूर्ण और ग़लत है, जो भूख, बदहाली और बेघर होने में कोई कल्याणकारी तत्व नहीं देखते। आपमें से उनके लिए, जिन्हें वह समय याद है, जब एक करोड़ बीस लाख बेरोज़गार सूनी आँखों से भविष्य की ओर ताक रहे थे।

यह एक गाथा है, उनके लिए, जिन्होंने भूख से तड़पते बच्चे या पीड़ा से छटपटाते इन्सान की मन्द पड़ती कराह सुनी है। उनके लिए, जिन्होंने बन्दूक़ों की गड़गड़ाहट सुनी है और टारपीडो के दागे जाने की आवाज़ पर कान लगाये हों। उनके लिए, जिन्होंने फासिज़्म द्वारा बिछायी गयी लाशों का अम्बार देखा है। उनके लिए, जिन्होंने युद्ध के दानव की मांसपेशियों को मज़बूत बनाया था, और बदले में जिन्हें एटमी मौत का ख़ौफ़ दिया गया था।

यह गाथा उनके लिए है। उन माताओं के लिए जो अपने बच्चों को मरता नहीं बल्कि ज़िन्दा देखना चाहती हैं। उन मेहनतकशों के लिए जो जानते हैं कि फासिस्ट सबसे पहले मज़दूर यूनियनों को ही तोड़ते हैं। उन भूतपूर्व सैनिकों के लिए, जिन्हें मालूम है कि जो लोग युद्धों को जन्म देते हैं, वे ख़ुद लड़ाई में नहीं उतरते। उन छात्रों के लिए, जो जानते हैं कि आज़ादी और ज्ञान को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। उन बुद्धिजीवियों के लिए, जिनकी मौत निश्चित है यदि फासिज़्म ज़िन्दा रहता है। उन नीग्रो लोगों के लिए, जो जानते हैं कि जिम-क्रो' और प्रतिक्रियावाद दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। उन यहूदियों के लिए जिन्होंने हिटलर से सीखा कि यहूदी विरोध की भावना असल में क्या होती है। और यह गाथा बच्चों के लिए, सारे बच्चों के लिए, हर रंग, हर नस्ल, हर आस्था-धर्म के बच्चों के लिए उन सबके लिए लिखी गयी है, ताकि उनका भविष्य जीवन से भरपूर हो, मौत से नहीं।

यह गाथा है जनता की शक्ति की, उनके अपने उस दिन की, जिसे उन्होंने स्वयं चुना था और जिस दिन वे अपनी एकता और शक्ति का पर्व मनाते हैं। यह वह दिन है, जो अमेरिकी मज़दूर वर्ग का संसार को उपहार था और जिस पर हमें हमेशा फ़ख़्र रहेगा।

उन्होंने आपको यह नहीं बताया

...स्कूल में आपने इतिहास की जो पुस्तकें पढ़ी होंगी उनमें उन्होंने यह नहीं बताया होगा कि "मई दिवस" की शुरुआत कैसे हुई थी। लेकिन हमारे अतीत में बहुत कुछ उदात्त था और साहस से भरपूर था, जिसे इतिहास के पन्नों से बहुत सावधानी से मिटा दिया गया है। कहा जाता है कि "मई दिवस" विदेशी परिघटना है, लेकिन जिन लोगों ने 1886 में शिकागो में पहले मई दिवस की रचना की थी, उनके लिए इसमें कुछ भी बाहर का नहीं था। उन्होंने इसे देसी सूत से बुना था। उजरती मज़दूरी की व्यवस्था इन्सानों का जो हश्र करती है उसके प्रति उनका ग़ुस्सा किसी बाहरी स्रोत से नहीं आया था।

पहला "मई दिवस" 1886 में शिकागो नगर में मनाया गया। उसकी भी एक पूर्वपीठिका थी, जिसके दृश्यों को याद कर लेना अनुपयुक्त नहीं होगा। 1886 के एक दशक पहले से अमेरिकी

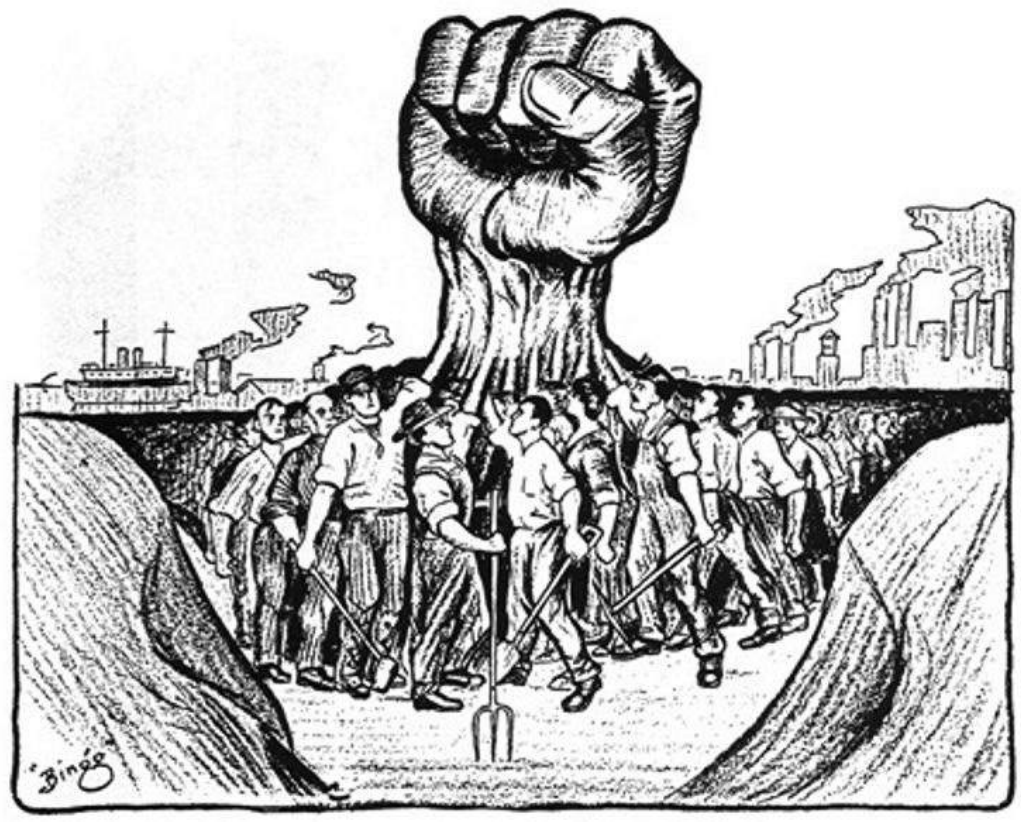

मज़दूर वर्ग जन्म और विकास की प्रक्रिया से गुज़र रहा था। यह नया देश जो थोड़े-से समय में एक महासागर से दूसरे महासागर तक फैल गया था, उसने शहर पर शहर बनाये, मैदानों पर रेलों का जाल बिछा दिया, घने जंगलों को काटकर साफ़ किया, और अब वह विश्व का पहला औद्योगिक देश बनने जा रहा था। और ऐसा करते हुए वह उन लोगों पर ही टूट पड़ा जिन्होंने अपनी मेहनत से यह सब सम्भव बनाया था, वह सबकुछ बनाया था जिसे अमेरिका कहा जाता था, और उनके जीवन की एक-एक बूँद निचोड़ ली।

स्त्री-पुरुष और यहाँ तक कि बच्चे भी अमेरिका की नयी फ़ैक्टरियों में हाड़तोड़ मेहनत करते थे। बारह घण्टे का काम का दिन आम चलन था, चौदह घण्टे का काम भी बहुत असामान्य नहीं था, और कई जगहों पर बच्चे भी एक-एक दिन में सोलह और अठारह घण्टे तक काम करते थे। मज़दूरी बहुत ही कम हुआ करती थी, वह अक़्सर दो जून रोटी के लिए भी नाकाफ़ी होती थी, और बार-बार आने वाली मन्दी की कड़वी नियमितता के साथ बड़े पैमाने पर बेरोज़गारी के दौर आने लगे। सरकारी निषेधाज्ञाओं के ज़रिये शासन रोज़मर्रा की बात थी।

परन्तु अमेरिकी मज़दूर वर्ग रीढ़विहीन नहीं था। उसने यह स्थिति स्वीकार नहीं की, उसे किस्मत में बदी बात मानकर सहन नहीं किया। उसने मुक़ाबला किया और पूरी दुनिया के मेहनतकशों को जुझारूपन का पाठ पढ़ाया। ऐसा जुझारूपन जिसकी आज भी कोई दूसरी मिसाल नहीं मिलती।

1877 में वेस्ट वर्जीनिया प्रदेश के मार्टिन्सबर्ग में रेल-हड़ताल शुरू हुई। हथियारबन्द पुलिस बुला ली गयी और मज़दूरों के साथ एक छोटी लड़ाई के बाद हड़ताल कुचल दी गयी। लेकिन केवल स्थानीय तौर पर; जो चिनगारी भड़की थी, वह ज्वाला बन गयी। "बाल्टीमोर और ओहायो" रेलमार्ग बन्द हुआ, फिर पेन्सिलवेनिया बन्द हुआ, और फिर एक के बाद दूसरी रेल कम्पनियों का चक्का जाम होता चला गया। और आख़िरकार एक छोटा-सा स्थानीय उभार इतिहास में उस समय तक ज्ञात सबसे बड़ी रेल हड़ताल बन गया। दूसरे उद्योग भी उसमें शामिल हो गये और कई इलाक़ों में यह रेल-हड़ताल एक आम हड़ताल में तब्दील हो गयी।

पहली बार सरकार और साथ ही मालिकों को भी पता चला कि मज़दूर की ताक़त क्या हो सकती है। उन्होंने पुलिस और फ़ौज बुलायी; जगह-जगह जासूस तैनात किये गये। कई जगहों पर जमकर लड़ाइयाँ हुईं। सेण्ट लुई में नागरिक प्रशासन के अधिकारियों ने हथियार डाल दिये और नगर मज़दूर वर्ग के हवाले कर दिया। उन लोमहर्षक उभारों में कितने हताहत हुए होंगे, उन्हें आज कोई नहीं गिन सकता। परन्त हताहतों की संख्या बहुत बड़ी रही होगी, इस पर कोई भी, जिसने तथ्यों का अध्ययन किया है, सन्देह नहीं कर सकता।

हड़ताल आख़िरकार टूट गयी। परन्तु अमेरिकी मज़दूरों ने अपनी भुजाएँ फैला दी थीं और उनमें नयी जागरूकता का संचार हो रहा था। प्रसव-वेदना समाप्त हो चुकी थी और अब वह वयस्क होने लगा था।

अगला दशक संघर्ष का दौर था, आरम्भ में अस्तित्व का संघर्ष और फिर संगठन बनाने का संघर्ष। सरकार ने 1877 को आसानी से नहीं भुलाया; अमेरिका के अनेक शहरों में शस्त्रागारों का निर्माण होने लगा; मुख्य सड़कें चौड़ी की जाने लगीं, ताकि "गैटलिंग" मशीनगनें उन्हें अपने नियन्त्रण में रख सकें। एक मज़दूर-विरोधी प्राइवेट पुलिस संगठन "पिंकरटन एजेंसी" का गठन किया गया, और मज़दूरों के ख़िलाफ़ उठाये गये क़दम अधिक से अधिक दमनकारी होते चले गये। वैसे तो अमेरीका में दुष्प्रचार के तौर पर "लाल ख़तरे" शब्द का इस्तेमाल 1830 के दशक से ही होता चला आया था, लेकिन उसे अब एक ऐसे डरावने हौवे का रूप दे दिया गया, जो आज प्रत्यक्ष तौर पर हमारे सामने है।

परन्तु मज़दूरों ने इसे चुपचाप स्वीकार नहीं किया। उन्होंने भी अपने भूमिगत संगठन बनाये। भूमिगत रूप में जन्मे संगठन नाइट्स ऑफ़ लेबर के सदस्यों की संख्या 1886 तक 7,00,000 से ज़्यादा हो गयी थी। नवजात अमेरिकन फ़ेडरेशन ऑफ़ लेबर का मज़दूर यूनियनों की स्वैच्छिक संस्था के रूप में गठन किया गया, समाजवाद जिसके लक्ष्यों में एक लक्ष्य था। यह संस्था बहुत तेज़ रफ़्तार से विकसित होती चली गयी। यह वर्ग-सचेत और जुझारू थी और अपनी माँगों पर टस-से-मस न होने वाली थी। एक नया नारा बुलन्द हुआ। एक नयी, दो टूक, सुस्पष्ट माँग पेश की गयी : "आठ घण्टे काम, आठ घण्टे आराम, आठ घण्टे मनोरंजन"।

1886 तक अमेरिकी मज़दूर नौजवान योद्धा बन चुका था, जो अपनी ताक़त परखने के लिए मौक़े की तलाश कर रहा था। उसका मुक़ाबला करने के लिए सरकारी शस्त्रागारों का निर्माण किया गया था, पर वे नाकाफ़ी थे। "पिंकरटनों" का प्राइवेट पुलिस दल भी काफ़ी नहीं था, न ही गैटलिंग मशीनगनें। संगठित मज़दूर अपने क़दम बढ़ा रहा था, और उसका एकमात्र जुझारू नारा देश और यहाँ तक कि धरती के आर-पार गूँज रहा था : "एक दिन में आठ घण्टे का काम — इससे ज़रा भी ज़्यादा नहीं!"

1886 के उस ज़माने में, शिकागो जुझारू, वामपक्षी मज़दूर आन्दोलन का केन्द्र था। यहीं शिकागो में संयुक्त मज़दूर प्रदर्शन के विचार ने जन्म लिया, एक दिन जो उनका दिन हो किसी और का नहीं, एक दिन जब वे अपने औज़ार रख देंगे और कन्धे से कन्धा मिलाकर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करेंगे।

पहली मई को मज़दूर वर्ग के दिवस, जनता के दिवस के रूप में चुना गया। प्रदर्शन से काफ़ी पहले ही "आठ घण्टा संघ" नाम की एक संस्था गठित की गयी। यह आठ घण्टा संघ एक संयुक्त मोर्चा था, जिसमें अमेरिकन फ़ेडरेशन ऑफ़ लेबर, नाइट्स ऑफ़ लेबर और समाजवादी मज़दूर पार्टी शामिल थे। शिकागो की सेण्ट्रल लेबर यूनियन भी, जिसमें सबसे अधिक जुझारू वामपक्षी यूनियनें शामिल थीं, इससे जुड़ी थी।

शिकागो से हुई शुरुआत कोई

(पेज 14 पर जारी)

यह एक गाथा है... पर आप सबके लिए नहीं!

(पेज 13 से आगे)

मामूली बात नहीं थी। "मई दिवस" की पूर्ववेला में एकजुटता के लिए आयोजित सभा में 25,000 मज़दूर उपस्थित हुए। और जब "मई दिवस" आया, तो उसमें भाग लेने के लिए शिकागो के हज़ारों मज़दूर अपने औज़ार छोड़कर फ़ैक्टरियों से निकलकर मार्च करते हुए जनसभाओं में शामिल होने पहुँचने लगे। और उस समय भी, जबकि "मई दिवस" का आरम्भ ही हुआ था, मध्य वर्ग के हज़ारों लोग मज़दूरों की क़तारों में शामिल हुए और समर्थन का यह स्वरूप अमेरिका के कई अन्य शहरों में भी दोहराया गया।

और आज की तरह उस वक़्त भी बड़े पूँजीपतियों ने जवाबी हमला किया — रक्तपात, आतंक, न्यायिक हत्या को ज़रिया बनाया गया। दो दिन बाद मैकार्मिक रीपर कारख़ाने में, जहाँ हड़ताल चल रही थी, एक आम सभा पर पुलिस ने हमला किया। उसमें छह मज़दूरों की हत्या हुई। अगले दिन इस जघन्य कार्रवाई के विरुद्ध हे मार्केट चौक पर जब मज़दूरों ने प्रदर्शन किया, तो पुलिस ने उन पर फिर हमला किया। कहीं से एक बम फेंका गया, जिसके फटने से कई मज़दूर और पुलिसवाले मारे गये। इस बात का कभी पता नहीं चल पाया कि बम किसने फेंका था, इसके बावजूद चार अमेरिकी मज़दूर नेताओं को फाँसी दे दी गयी, उस अपराध के लिए, जो उन्होंने कभी किया ही नहीं था और जिसके लिए वे निर्दोष सिद्ध हो चुके थे।

इन वीर शहीदों में से एक, ऑगस्ट स्पाइस, ने फाँसी के तख्ते से घोषणा की:

''एक वक़्त आयेगा, जब हमारी ख़ामोशी उन आवाज़ों से ज़्यादा ताक़तवर सिद्ध होगी, जिनका तुम आज गला घोंट रहे हो।'' समय ने इन शब्दों की सच्चाई को प्रमाणित कर दिया है। शिकागो ने दुनिया को "मई दिवस" दिया, और इस बासठवें मई दिवस पर करोड़ों की संख्या में एकत्र दुनियाभर के लोग ऑगस्ट स्पाइस की भविष्यवाणी को सच साबित कर रहे हैं।

शिकागो में हुए प्रदर्शन के तीन वर्ष बाद संसारभर के मज़दूर नेता बास्तीय क़िले पर धावे (जिसके साथ फ़्रांसीसी क्रान्ति की शुरुआत हुई) की सौवीं सालगिरह मनाने के लिए पेरिस में जमा हुए। एक-एक करके, अनेक देशों के नेताओं ने भाषण दिया।

आख़िर में अमेरीकियों के बोलने की बारी आयी। जो मज़दूर हमारे मज़दूर वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रहा था, खड़ा हुआ और बिल्कुल सरल और दो टूक भाषा में उसने आठ घण्टे के कार्यदिवस के संघर्ष की कहानी बयान की जिसकी परिणति 1886 में हे मार्केट का शर्मनाक काण्ड था।

उसने हिंसा, ख़ूरेज़ी, बहादुरी का जो सजीव चित्र पेश किया, उसे सम्मेलन में आये प्रतिनिधि वर्षों तक नहीं भूल सके। उसने बताया कि पार्सन्स ने कैसे मृत्यु का वरण किया था, जबकि उससे कहा गया था कि अगर वह अपने साथियों से ग़द्दारी करे और क्षमा माँगे तो उसे फाँसी नहीं दी जायेगी। उसने श्रोताओं को बताया कि कैसे दस आयरिश ख़ान मज़दूरों को पेनसिल्वेनिया में इसलिए फाँसी दी गयी थी कि उन्होंने मज़दूरों के संगठित होने के अधिकार के लिए संघर्ष किया था। उसने उन वास्तविक लड़ाइयों के बारे में बताया जो मज़दूरों ने हथियारबन्द "पिंकरटनों" से लड़ी थीं, और उसने और भी बहुत कुछ बताया। जब उसने अपना भाषण समाप्त किया तो पेरिस कांग्रेस ने निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया :

"कांग्रेस फ़ैसला करती है कि राज्यों के अधिकारियों से कार्य दिवस को क़ानूनी ढंग से घटाकर आठ घण्टे करने की माँग करने के लिए और साथ ही पेरिस कांग्रेस के अन्य निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए समस्त देशों और नगरों से मेहनतकश अवाम एक निर्धारित दिन एक महान अन्तरराष्ट्रीय प्रदर्शन संगठित करेंगे। चूँकि अमेरिकन फ़ेडरेशन ऑफ़ लेबर पहली मई 1890 को ऐसा ही प्रदर्शन करने का फ़ैसला कर चुका है, "अत: यह दिन अन्तरराष्ट्रीय प्रदर्शन के लिए स्वीकार किया जाता है। विभिन्न देशों के मज़दूरों को प्रत्येक देश में विद्यमान परिस्थितियों के अनुसार यह प्रदर्शन अवश्य आयोजित करना चाहिए।"

तो इस निश्चय पर अमल किया गया और "मई दिवस" पूरे संसार की धरोहर बन गया। अच्छी चीज़ें किसी एक जनता या राष्ट्र की सम्पत्ति नहीं होतीं। एक के बाद दूसरे देश के मज़दूर ज्यों-ज्यों मई दिवस को अपने जीवन, अपने संघर्षों, अपनी आशाओं का अविभाज्य अंग बनाते गये, वे मानकर चलने लगे कि यह दिन उनका है और यह भी सही है, क्योंकि पृथ्वी पर मौजूद समस्त राष्ट्रों के बरक्स हम राष्ट्रों का राष्ट्र हैं, सभी लोगों और सभी संस्कृतियों का समुच्चय हैं।

और आज के मई दिवस की क्या विशेषता है

पिछले मई दिवस गत आधी शताब्दी के संघर्षों को प्रकाश-स्तम्भों की भाँति आलोकित करते हैं। इस शताब्दी के आरम्भ में मई दिवस के ही दिन मज़दूर वर्ग ने परायी धरती को हड़पने की साम्राज्यवादी कार्रवाइयों की सबसे पहले भर्त्सना की थी। मई दिवस के ही अवसर पर मज़दूरों ने नवजात समाजवादी राज्य सोवियत संघ का समर्थन करने के लिए आवाज़ बुलन्द की थी। मई दिवस के अवसर पर ही हमने अपनी भरपूर शक्ति से असंगठितों के संगठन का समारोह मनाया था।

लेकिन बीते किसी भी मई दिवस पर कभी ऐसे अनिष्टसूचक लेकिन साथ ही इतने आशा भरे भविष्य-संकेत नहीं दिखायी दिये थे, जितना कि आज के मई दिवस पर हो रहा है। पहले कभी हमारे पास जीतने को इतना कुछ नहीं था, पहले कभी हमारे खोने को इतना कुछ नहीं था।

जनता के लिए अपनी बात कह पाना आसान नहीं है। लोगों के पास अख़बार या मंच नहीं है, और न ही सरकार में शामिल हमारे चुने गये प्रतिनिधियों की बहुसंख्या जनता की सेवा करती है। रेडियो जनता का नहीं है और न फ़िल्म बनाने वाली मशीनरी उसकी है। बड़े कारोबारों की इज़ारेदारी अच्छी तरह स्थापित हो चुकी है, काफ़ी अच्छी तरह — लेकिन लोगों पर तो किसी का एकाधिकार नहीं है।

जनता की ताक़त उसकी अपनी ताक़त है। मई दिवस उसका अपना दिवस है, अपनी यह ताक़त प्रदर्शित करने का दिन है। क़दम से क़दम मिलाकर बढ़ते लाखों लोगों की क़तारों के बीच अलग से एक आवाज़ बुलन्द हो रही है। यह वक़्त है कि वे लोग, जो अमेरिका को फासिज़्म के हवाले करने पर आमादा हैं, इस आवाज़ को सुनें।

उन्हें यह बताने का वक़्त है कि वास्तविक मज़दूरी लगभग पचास प्रतिशत घट गयी है, कि घरों में अनाज के कनस्तर ख़ाली हैं, कि यहाँ अमेरिका में अधिकाधिक लोग भूख की चपेट में आ रहे हैं।

यह वक़्त है श्रम विरोधी क़ानूनों के ख़िलाफ़ आवाज़ बुलन्द करने का। दो सौ से ज़्यादा श्रम विरोधी क़ानूनों के विधेयक कांग्रेस के समक्ष विचाराधीन आ रहे हैं, जो यक़ीनन मज़दूरों को उसी तरह तोड़ डालने के रास्ते खोल देंगे, जिस तरह हिटलर के नाज़ीवाद ने जर्मन मज़दूरों को तोड़ डाला था।

संगठित अमेरिकी मज़दूरों के लिए आँख खोलकर यह तथ्य देखने का वक़्त आ गया है कि यह मज़दूरों की एकता क़ायम करने की आख़िरी घड़ी है वरना बहुत देर हो जायेगी और एकताबद्ध करने के लिए संगठित मज़दूर रहेंगे ही नहीं।

आप यहाँ पढ़ रहे हैं गाथा, उन लोगों की जो बारह से पन्द्रह घण्टे रोज़ काम करते थे, आप पढ़ रहे हैं गाथा, उस सरकार की, जो आतंक और निषेधाज्ञाओं के बल पर चल रही है।

यह है उन लोगों का लक्ष्य, जो आज श्रमिकों को चकनाचूर करना चाहते हैं। वे अपने "अच्छे" दिनों को फिर वापस लाना चाहते हैं। इसका सबूत यूनाइटेड माइन के खनिक मज़दूरों के मामले में सुप्रीम कोर्ट का फ़ैसला है। आप जब मई दिवस के अवसर पर मार्च करेंगे तो आप उन्हें अपना जवाब देंगे।

वक़्त आ गया है यह समझने का कि "अमेरिकी साम्राज्य" के आह्वान का, यूनान, तुर्की और चीन में हस्तक्षेप से क्या रिश्ता है! साम्राज्य की क़ीमत क्या है? जो दुनिया पर राज कर दुनिया को "बचाने" के लिए चीख़ रहे हैं, उन्हें दूसरे साम्राज्यों के अंजाम को याद करना चाहिए। उन्हें यह आँकना चाहिए कि ज़िन्दगी और धन दोनों अर्थों में युद्ध की क्या क़ीमत होती है।

वक़्त आ गया है यह देखने के लिए जाग उठने का कि कम्युनिस्टों के पीछे शिकारी कुत्ते छोड़े जाने का क्या अर्थ है? क्या एक भी ऐसा कोई देश है, जहाँ कम्युनिस्ट पार्टी को ग़ैरक़ानूनी घोषित किया जाना फासिज़्म की पूर्वपीठिका न रहा हो? क्या ऐसा कोई एक भी देश है, जहाँ कम्युनिस्टों को रास्ते से हटाते ही मज़दूर यूनियनों को चकनाचूर न कर दिया गया हो?

वक़्त आ गया है कि हम हालात की क़ीमत को समझें। कम्युनिस्टों को प्रताड़ित करने के अभियान की क़ीमत था संगठित मज़दूरों को ठिकाने लगाना — उसकी क़ीमत है फासिज़्म। और आज ऐसा कौन है, जो इस बात को स्वीकार नहीं करेगा कि फासिज़्म की क़ीमत मौत है?

मई दिवस इस देश के समस्त स्वतन्त्रताप्रिय नागरिकों के लिए प्रतिगामियों को जवाब देने का वक़्त है। क़दम मिलाकर आगे बढ़ते हुए लाखों-लाख लोगों की एक ही आवाज़ बुलन्द हो रही है — मई दिवस प्रदर्शन में हमारे साथ आइये और मौत के सौदागरों को अपना जवाब दीजिये।

'प्रोस्तोर' – मज़दूरों के जीवन पर आधारित एक लघु उपन्यास के अंश

(पेज 15 से आगे)

सोचना... अघोघ को यह सब सोचना किसी ज़ख़्म को कुरेदने से कम नहीं नज़र आ रहा। उस दिन की घटना के बाद दोनों भाई आपस में कभी बात नहीं कर पाये। जीवन की आपाधापी के कारण दोनों भाइयों की धाराएँ बदल गयी थीं। अब सब समझ में आ रहा था। मिल में काम करने वाले सभी मज़दूर थे लेकिन कब हिन्दू-मुस्लिम या जातियों में बँट गये पता भी नहीं चला।

अब महसूस हो रहा है कि रोज़ी-रोटी से बड़ा मुद्दा मन्दिर को बनाने के लिए न जाने कितनी नियोजित तैयारी की गयी है। शायद इस बात का लोग अन्दाज़ा कभी नहीं लगा सकेंगे। और हम बिना तैयारी के मज़दूर आन्दोलन को सफल बनाने की नाकाम कोशिश कर रहे थे। ये तो भला हो मास्टर रतन सिंह का जिनकी वजह से हम जैसे युवा बालक धार्मिक कट्टरता से बच गये, वरना आज हमारे सभी दोस्त मज़दूर आन्दोलन का झण्डा उठाने की जगह मन्दिर आन्दोलन का झण्डा उठाते।

ख़ैर मज़दूरों ने लम्बी लड़ाई लड़ी और मिल फिर से चालू हो गयी। सभी को लगा कि शायद यह हमारे आन्दोलन की वजह से चालू हुई है, लेकिन कारण एक था फिर से निजी हाथों में धागा मिल को सौंपना। यहाँ यह बात स्पष्ट समझ में आ गयी कि दुनिया का सबसे बड़ा संगठन होने का दावा करने वाले लोग मन्दिर आन्दोलन तो चला सकते हैं। लेकिन मज़दूरों की ज़िन्दगी से उनका कोई लेना-देना नहीं। यहीं से अघोघ के जीवन में एक नया विचार का जन्म लेना शुरू कर देता है।

अब यह मिल बड़े सेठ के पास जा चुकी थी। नये-नये बहाने बनाकर, बूढ़े, अपाहिज और बीमार मज़दूरों को निकाला जाने लगा। इस प्रक्रिया को अफ़सर लोग छँटनी कह रहे थे।

मिल मालिक ने पहली बार धागा मिल के मज़दूरों की मेडिकल जाँच करायी। उसी रिपोर्ट में पता चला कि न सिर्फ़ मिल में काम करने वाले मज़दूर खाँसी, फेफड़े की बीमारी और दमे की चपेट में हैं, बल्कि उस मिल की ज़द में आने वाला प्रत्येक नागरिक दमे जैसी बीमारी का शिकार है। अघोघ और उसके मित्रों को पहली बार पता चला था कि मज़दूरों को खाने के लिए गुड़ क्यों दिया जाता था। सोलह बरस के बाद पता चला कि रूई का महीन से महीन कचरा भी गुड़ खाने से अन्दर चला जाता है।

नये मालिक ने बहुत लोगों को निकाल भी दिया, लेकिन वह छह महीने से ज़्यादा मिल नहीं चला सका और फिर धागा मिल बन्द कर दी। मिल बन्द होने से पहले किसी पार्टी का झण्डा मज़दूरों के बीच नहीं दिखायी देता था, किन्तु मिल बन्द होते ही लाल रंग का झण्डा हमेशा मज़दूरों की मीटिंग में दिखायी देने लगा। नीले-पीले-हरे झण्डों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ने लगी। लाल झण्डों की संख्या धीरे-धीरे कम होने लगी। मिल मालिक ने मज़दूर यूनियनों के कुछ नेताओं को ख़रीद लिया, उनका आपस में झगड़ा करा दिया। धागा मिल समर्थक यूनियन आपस में भिड़ गये। उस झगड़े में अघोघ सिंह के पिता के पैर में लोहे का सरिया घुस गया।

अघोघ के पिता ने किसी की भी शिकायत पुलिस या यूनियन में नहीं की। बस इतना ही कहा, "हम सभी मज़दूर हैं। एक-दूसरे को समझ पाने और न समझा पाने में नाकाम रहे।"

यह बात भी फैल चुकी थी कि मज़दूर आपस में झगड़े नहीं थे, बल्कि मिल मालिकों ने उन्हें आपस में लड़वाया ताकि मज़दूरों की एकता ख़त्म हो। जब झगड़ा हो गया तो मिल मालिक को भी धागा मिल बन्द करने का मौक़ा मिल गया। और बदनाम हो गया मज़दूर आन्दोलन!

स्थानीय लोग समझते थे कि मज़दूर यूनियन की वजह से मिल बन्द हुई है। लेकिन मास्टर रतन सिंह लोगों को दिन-रात समझाने में लगे रहे कि यूनियन की वजह से मिल बन्द नहीं हो रही है! और सिर्फ़ यही मिल बन्द हो रही है, बल्कि पूरे देश में कपड़ा मिलें और धागा मिलें बन्द हो रही हैं। यह सरकार की नीतियों के कारण बन्द हो रही हैं, लोक कल्याणकारी नीतियों से पीछे हटने के कारण बन्द हो रही हैं। कुछ पूँजीपति घरानों को फ़ायदा पहुँचाने के लिए बन्द हो रही हैं।

'प्रोस्तोर' – मज़दूरों के जीवन पर आधारित एक लघु उपन्यास के अंश

देश की आबादी का लगभग एक तिहाई हिस्सा आज औद्योगिक मज़दूर बन चुका है और उसकी संख्या लगातार बढ़ रही है। लेकिन इस विशाल आबादी का चित्रण हमारे साहित्य से लगभग ग़ायब है। ज़्यादातर लेखक इन मज़दूरों की दुनिया से ही अनजान हैं, तो वे भला लिखें कैसे? हर नगर और महानगर में या उसके पास औद्योगिक केन्द्र और मज़दूरों की बस्तियाँ हैं लेकिन वहाँ कोई लेखक जाता नहीं। ऐसे परिदृश्य में युवा लेखक एम.एम. चन्द्रा का लघु उपन्यास 'प्रोस्तोर' (विस्तार) अपनी ओर ध्यान खींचता है। दिल्ली के पास के एक क़स्बे में स्थित एक विशाल सरकारी धागामिल, उसके मज़दूरों और उनके नौजवान हो रहे बच्चों के माध्यम से यह उस दौर का एक रेखाचित्र प्रस्तुत करता है जब एक ओर उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के लागू होने के साथ सरकारी कारख़ानों की बन्दी, छँटनी आदि का सिलसिला तेज़ हो रहा था, जगह-जगह मज़दूरों के आन्दोलन उठ रहे थे, दूसरी ओर राम मन्दिर आन्दोलन को हवा दी जा रही थी। मज़दूर आन्दोलन के बिखरने और जनता की एकता को तोड़ने की कोशिशों की झलक भी इसमें देखी जा सकती है। हालाँकि उपन्यास का कलेवर छोटा है और कई बातों को थोड़े सरलीकृत ढंग से प्रस्तुत करता है लेकिन उन दिनों की एक तस्वीर हमारे सामने उकेरने में यह सफल है। 'डायमंड बुक्स' से प्रकाशित इस लघु उपन्यास का एक अंश हम यहाँ मज़दूर बिगुल के पाठकों के लिए आभार सहित प्रस्तुत कर रहे हैं। — सम्पादक

गाँव के लोग भी किसी न किसी बहाने धागामिल के गेट पर घण्टों वक़्त बिताकर मिल चलने की आशा भरी बातों को अपने साथ ले जाते। यह पहली बार नहीं हुआ था जब यह धागामिल बन्द हुई है। इससे पहले भी कई बार बन्द हो चुकी थी। कुछ दिन बाद फिर से चलने लगती थी। फिर से ज़िन्दगी सरपट दौड़ने लगती थी।

लेकिन इस बार मिल ज़्यादा ही दिन बन्द हो गयी। इसी समय राम जन्मभूमि का मुद्दा भी उठने लगा था। अघोघ सिंह घर-घर पर्चे बाँटने और एक-एक रोटी जुटाने का काम करता था। वह ज़ोर-ज़ोर से नारा भी लगाता था, "मन्दिर वहीं बनायेंगे।" उसे याद नहीं कि उसने ऐसा क्यों किया? जबकि दूसरी तरफ़ मिल के मज़दूर मिल चलाने के लिए धरने पर बैठे हुए थे।

यह पहली बार देखा गया कि हड़ताल भी नहीं हुई और मिल बन्द हो चुकी है। मिल मज़दूरों की कोई ग़लती भी नहीं थी, न ही मिल मालिक और मज़दूरों में वेतन को लेकर झगड़ा हुआ था। मज़दूर अच्छी तरह से जानते हैं। हर साल कुछ-न-कुछ बढ़ता ही है चाहे 100 रुपये ही क्यों न बढ़ें। फिर सरकारी जैसी नौकरी है। फ़ण्ड, बोनस, रहना, सब मिलता है... इससे अच्छी जगह पर नौकरी नहीं मिल सकती। इसलिए कभी भी मिल और मज़दूरों में विवाद भी नहीं हुआ।

लम्बे समय तक मिल बन्द होने के कारण क़स्बे में पहली बार ऐसा हो रहा था, हड़ताल करने वाले मज़दूरों की संख्या लगातार कम हो रही थी। रंग-बिरंगे झण्डों की संख्या बढ़ रही थी। **पहले एक झण्डा मज़दूरों की आवाज़ होती थी। अब न जाने कितने रंगों के झण्डों के नीचे मज़दूर बिखरकर एकता का गीत गाने लगे।**

रोज़ी-रोटी के मुद्दे को छोड़कर मन्दिर-मस्जिद का मुद्दा ज़्यादा बड़ा बन गया था। दो तरह के समानान्तर आन्दोलन यहाँ साफ़ दिखायी दे रहे थे, मज़दूर आन्दोलन और राम मन्दिर आन्दोलन। अख़बार में जो ख़बरें आ रही थीं, उनमें भी मन्दिर आन्दोलन की ख़बरें ज़्यादा थीं। इस क़स्बे में होने वाली मन्दिर आन्दोलन रैली की भी कई बार फ़ोटो सहित ख़बर आयी। लेकिन सैकड़ों गाँवों को आर्थिक-सामाजिक सुख देने वाली धागा मिल और मज़दूर ख़बरों से नदारद था।

अघोघ के पिताजी 23 वर्ष इसी कम्पनी में काम कर चुके थे। उन्हें बस इस बात का दुख है कि इस उम्र में कोई दूसरा काम कर नहीं सकते। फेफड़े खराब हो चुके हैं। यह अकेले अघोघ के पिता की कहानी नहीं है, बल्कि प्रत्येक मज़दूर की कहानी है। क्योंकि इस मिल के लगभग सभी मज़दूर काम करते समय न जाने किस रुई के महीन कण रोज़ जो निगलते थे।

मास्टर रतन सिंह मज़दूर आन्दोलन से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ा हुआ था। मज़दूरों का पलायन रुकने का नाम नहीं ले रहा था। तब उन्होंने तय किया मज़दूरों के साथ मिलकर कुछ-न-कुछ करना चाहिए। इस कठिन समय में मास्टर जी अघोघ के घर आये।

"मैं एक सरकारी नौकर हूँ। सरकार की खाता हूँ, कभी भी सरकार के खिलाफ़ आवाज़ नहीं उठा सकता। लेकिन तुम अपने दोस्तों और पिता को साथ लेकर एक काम ज़रूर कर सकते हो।"

"क्या उस काम का पैसा मिलेगा?" अघोघ ने कहा।

"नहीं! लेकिन यदि हम लोग सफल हो गये तो सबका फ़ायदा होगा।" रतन सिंह ने कहा।

"लेकिन मास्टर जी काम क्या है?" अघोघ के पिता बोले।

"मैं कल आऊँगा। आप अपने जानने वाले मज़दूरों को और तुम अघोघ... अपने दोस्तों को लेकर आना... फिर हम सब मिलकर धागा मिल को चलवाने का तरीक़ा निकालेंगे।" रतन सिंह ने अपनी योजना बतायी।

"जब सरकार ही नहीं चलाना चाहती तो आप और हम क्या कर सकते हैं? यह निर्णय सरकार ने लिया है। लड़ाई तो सरकार से ही लड़नी पड़ेगी।" अघोघ सिंह ने कहा।

"हाँ! तुम्हारी बात ठीक है लेकिन सरकार तो बदल जाती है। फिर तुम्हारी बर्बादी का जिम्मेदार कौन हुआ? क्या उसकी पहचान हमें है? हमारे पास ज़्यादा समय नहीं है। कल शाम छ: बजे फिर आऊँगा, यदि आप लोगों के पास समय हो तो मिल लेना।"

अघोघ के पिताजी ने अपने साथ के 20 लोगों को बुलावा भेजा लेकिन सभी कहीं-न-कहीं मज़दूरी करने गये हुए थे। यदि काम न करें तो भूखों मरने से कोई नहीं रोक सकता था। ख़ैर इतना सब होने पर भी ठीक समय पर अघोघ के पिता सहित सात लोग और अघोघ सहित उसके कुछ दोस्त विपिन, बण्टी, भुवन, राजीव, अल्ताफ, बॉबी, बिल्लू, जितेन्द्र और योगेश भी पहुँच गये।

मास्टर रतन सिंह ने अपना बैग खोला और कुछ पर्चे उसमें से निकालकर उलटने-पलटने लगे। फिर कुछ समय बाद उन्होंने अपना चश्मा लगाया और बोले, "मैं जो बात कह रहा हूँ, उसे ग़ौर से सुनना। यदि कोई बात समझ में न आये तो बीच में ही पूछ लेना। यह धागा मिल अब पूरी तरह से बन्द होने जा रही है। इस धागा मिल को पिछले कई सालों में कई पूँजीपतियों ने ख़रीदा लेकिन सब अपने हाथ खड़े करके चलते बने। सरकार की भी कोई इच्छा नहीं है कि इस धागा मिल को चलाये। कारण साफ़ है... भारत सरकार ने अभी कुछ दिन पहले विदेशी कम्पनियों के साथ समझौता किया है। विदेशी वस्तुओं से आयात-निर्यात कर हटा दिया गया है। उस कर के हटते ही विदेशी धागा भी सस्ते दामों पर भारत में आने लगा है। सरकार भी विश्व बाज़ार के मुताबिक़ काम कर रही है। अपने मज़दूरों के लिए उनके पास कोई योजना नहीं है।"

अघोघ सिंह ने सवाल किया, "क्या फिर अब कुछ नहीं हो सकता है?"

"हो सकता है! मज़दूर अपनी लड़ाई ख़ुद लड़ रहा है। मज़दूरों के साथ यहाँ के स्थानीय लोग किसान भी नहीं हैं। सबको इस लड़ाई में शामिल करना पड़ेगा।"

"लेकिन किसान मज़दूरों के साथ क्यों लड़ेगा?"

"दोनों ही मेहनतकश वर्ग हैं। दोनों को ही लूटकर कुछ परजीवी अपनी सत्ता को अनन्तकाल तक जीवित रखना चाहते हैं। हम दोनों को आवाहन करने और अपने साथ लड़ने के लिए तैयार करना है। आप लोग आसपास के गाँव में जाकर लोगों से आवाहन करो कि वो भी आपकी लड़ाई में साथ दें और मैं यहाँ मज़दूरों और पढ़े-लिखे लोगों तक अपनी बात पहुँचाता हूँ।" मास्टर जी ने अपनी पूरी योजना बतायी।

"हम अपनी बात लोगों को कैसे समझायेंगे।" अघोघ ने परेशान होते हुए कहा।

"मैं एक परचा लिखकर लाया हूँ। इसको सभी तक पहुँचाना है। लोगों को एक निश्चित तारीख़ को धागा मिल के गेट नं. 1 पर एकत्रित करना है। तब जाकर शायद कोई बात बन सके।" मास्टर रतन सिंह ने अपनी पूरी रूपरेखा प्रस्तुत की।

"ठीक है! हम तैयार हैं।" अघोघ के पिता ने कहा।

"किन्तु हम तैयार नहीं हैं। यदि हम पर्चा बाँटेंगे तो कल का खाना कहाँ से जुटायेंगे।" विपिन के पिता ने कहा।

"भाई! जब मिल चल जायेगी तो सबको भरपेट भोजन तो मिल ही जायेगा, वरना हम सब भूखे ही मर जायेंगे।" अघोघ के पिता ने कहा।

"ठीक है! हम कोशिश करेंगे।" विपिन के पिता बोले।

अघोघ और उसके मित्रों ने कई दिन साइकिल पर और पैदल चलकर पर्चे बाँटने का काम किया। कुछ जगह सकारात्मक रुख़ भी नज़र आया लेकिन अन्दाज़ लगाना मुश्किल था कि कितने लोग समर्थन में आयेंगे। धीरे-धीरे पर्चा बाँटने के काम में लोग कम होने लगे। सबको एक ही चिन्ता चिता के समान खा रही थी, दाना-पानी का जुगाड़ कैसे हो? ख़ैर, वह दिन भी आ गया जब लोग इकट्ठा हुए। बहुत-सी पार्टियों के नेता, किसान संगठन भी शामिल हुए। मिल को चलवाने के लिए बारी-बारी से धरने पर बैठने के दिन तय कर दिये गये। देखते-ही-देखते महीनों बीत गये लेकिन सरकार तो क्या किसी के सर पर जूँ तक न रेंगी।

लेकिन अयोध्या आन्दोलन के लिए बसें भर-भर कर जा रही थीं। ज़िला कलेक्ट्रेट तक मज़दूरों को ले जाने के लिए कोई वाहन तक नसीब नहीं हुआ। सभी मज़दूर अपने-अपने किराये से पहुँचे और कुछ लोग तो पैदल या साइकिल तक से भी गये थे। लेकिन कहीं भी कोई सुनवाई नहीं हुई। क्या केन्द्र की सरकार, क्या राज्य की सरकार, सभी तक मिल चालू करवाने का सन्देश पहुँचाया गया। दूसरे राज्य के नेता भी धरना स्थल तक आये, भाषण और आश्वासन दिया, फ़ोटो खिंचवाया। न्यूज़ में ख़बर देकर चलते बने। किसानों के सबसे बड़े नेता को भी बुलाया गया लेकिन किसान भी मज़दूर के साथ नहीं आ सके।

जैसे-जैसे मन्दिर आन्दोलन परवान चढ़ रहा था, वैसे-वैसे मज़दूर आन्दोलन दम तोड़ रहा था। मज़दूरों ने भी इधर-उधर जीवन चलाने के लिए काम-धन्धा ढूँढ़ना शुरू कर दिया।

किसी को भी कोई रास्ता नज़र नहीं आ रहा था, उस कठिन समय में अघोघ को यह समझ नहीं आ रहा था कि मज़दूर आन्दोलन कमज़ोर क्यों हो रहा है। जिस मन्दिर से पूरे क़स्बे के लोगों को कुछ भी लेना-देना नहीं है, वह यहाँ के दिलो-दिमाग़ तक घर बना चुका है। अघोघ और उसके दोस्त इस विषय को समझने के लिए मास्टर रतन सिंह के साथ एक बैठक करते हैं।

मास्टर जी ने कहा, "मन्दिर मस्जिद का मुद्दा इसीलिए जानबूझकर छेड़ा गया है, ताकि जनता के मूलभूत मुद्दों और लड़ाई से लोगों का ध्यान हटाया जा सके। नयी आर्थिक नीतियों के कारण उजड़ रहे मज़दूरों के साथ किसान नहीं जुड़ रहे हैं। किसान इसलिए आपके साथ नहीं हैं क्योंकि सीधे तौर पर अभी उनको कोई नुक़सान नहीं हुआ है। जिस दिन वे भी इन नीतियों के शिकार होंगे, तब वे भी सड़क पर आयेंगे। लेकिन तब तक शायद बहुत देर हो चुकी होगी।"

अघोघ सिंह को अभी तक यह समझ नहीं आ रहा था कि इस तरफ़ किसी का ध्यान क्यों नहीं जा रहा है जबकि इस मिल से सबकी रोज़ी-रोटी जुड़ी है। फिर क्यों एक साथ मिलकर लड़ा नहीं जा रहा। इस विषय में क्यों नहीं सोचा जा रहा? क्यों न मिलकर मोर्चो निकाला जाये।

"मुझे लगता है मास्टर जी ठीक ही कह रहे हैं। किसी का इस तरफ़ ध्यान न जाये इसलिए भगवान का जाप एक प्रायोजित आयोजन जैसा नज़र आने लगा था। धीरे-धीरे मानने लगे थे कि मास्टर रतन सिंह पागल नहीं हैं, वे सही हैं।" अघोघ बोला।

माहौल ऐसा बनता जा रहा था कि कुछ लोग कहने भी लगे, भगवान का नाम लो, एक वक़्त पानी पीकर अपना गुज़ारा करो, भगवान सब ठीक कर देंगे।

मज़दूर मिल के गेट पर धरने पर जाने लगे तो दूसरी तरफ़ जवान होने जा रही युवा पीढ़ी मन्दिर बनाने के अभियान में सुबह-शाम उन गलियों में चक्कर लगा रही थी, जहाँ खाना खाने तक के लिए अनाज का एक दाना भी नसीब नहीं था।

अब धीरे-धीरे अघोघ को सारी कहानी याद आने लगी थी। मन्दिर आन्दोलन एक दिन में सम्भव नहीं हुआ। परचून वाले लाला जी का लड़का सुरेश अघोघ के दोस्तों में से एक था। वही अघोघ सिंह सहित कस्बे के बच्चों को सुबह-शाम शाखा में बुलाने का काम करता था। उसी सुरेश के कारण भाई से पहली बार झगड़ा हुआ था। तब बड़े भाई ने बहुत समझाया था कि तुम शाखा जाना छोड़ दो, अपने काम-धाम पढ़ाई-लिखाई पर ध्यान दो; उस समय अघोघ ने उनकी एक बात भी नहीं सुनी और उनको खरी-खरी सुना दी, "मैं शाखा इसलिए जाता हूँ ताकि हमारे हिन्दू भाई हमारे साथ रहें, हिन्दू धर्म को बचाया जा सके।" उस समय बड़े भाई के पास भी कोई ज़्याादा विकल्प नहीं थे। उन्होंने एक विकल्प सुझाया -

"अगर तुम्हें ज्वॉइन ही करना है तो दशरथ दल को ज्वॉइन करो। कम-से-कम तलवार और त्रिशूल तो मिलेंगे जिससे तुम अपनी सुरक्षा कर सकते हो।"

दिलो-दिमाग़ को पता भी नहीं चला कि दोनों भाई कैसी-कैसी बातें करने लगे थे। यह भी पता नहीं चला कब अघोघ हिन्दू-मुसलमान की बातें करने लगा था, जबकि दोनों के सबसे ज़्यादा दोस्त तो मुस्लिम ही थे। माता-पिता के सबसे नज़दीकी दोस्त भी मुस्लिम ही थे... जब पक्की कालोनी वाले विजय की वजह से बड़े भाई को पीटने आये थे तो राही साहब की वजह से ही बड़ा भाई बच पाया था। गुलशन चाचा तो आज भी हमारे साथ खाना खाते हैं। शमीम चाचा के यहां ही तो अघोघ ने मछली खाना सीखा था। पूरा परिवार आस्तिक था लेकिन माँ-बाप कुछ नहीं कहते थे... उनका बस इतना कहना था कि बच्चे हैं जब बड़े होंगे तो अपने आप खाना छोड़ देंगे।

यह सब क्या हो रहा था, कुछ समझ नहीं आ रहा था। यह सब सिर्फ़ अघोघ ही महसूस नहीं कर रहा था, एक पूरी पीढ़ी के दिलो-दिमाग़ धीरे-धीरे बदलने लगे थे।

कितना तकलीफ़देह है यह सब

(पेज 14 पर जारी)

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2017-2019
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 20, प्रत्येक माह

लेबर ब्यूरो के आँकड़ों ने खोली सरकारी ढोल की पोल

दुनिया में सबसे अधिक बेरोज़गारों वाला देश बना भारत

रोज़गार लगातार घट रहा है और स्व-रोज़गार के अवसर कम हो रहे हैं

सत्यप्रकाश

लेबर ब्यूरो के हाल में जारी आँकड़ों ने मोदी सरकार के लम्बे-चौड़े दावों की पोल खोल दी है और उस सच्चाई को आँकड़ों की शक्ल में हमारे सामने रख दिया है जिसे आम लोग अपने अनुभवों से लगातार महसूस कर रहे हैं। भारत को दुनिया में सबसे अधिक बेरोज़गारों वाला देश होने का गौरव हासिल हो गया है। समावेशी विकास सूचकांक में दुनिया में भारत साठवें स्थान पर पहुँच गया है, यानी अपने पड़ोसियों से भी काफ़ी नीचे।

आँकड़े बताते हैं कि देश में रोज़गार लगातार घट रहा है और स्व-रोज़गार के अवसर कम हो रहे हैं। सामाजिक-आर्थिक असमानता लगातार बढ़ती जा रही है। लेकिन इसी के साथ देश में हो रहे ''विकास'' का दूसरा पहले यह है कि भारत की अर्थव्यवस्था को दुनिया में सबसे तेज़ी से बढ़ने वाला बताया जा रहा है। 'बिज़नेस एक्सेसिबिलिटी इंडेक्स' यानी व्यवसाय करने में सुविधाओं आदि के मामले में हम 30 सीढ़ी ऊपर चढ़ गये हैं।

सच यही है कि जैसे-जैसे देश में विकास हो रहा है, वैसे-वैसे यहाँ असमानता आसमान छूती जा रही है। अमीरों और ग़रीबों के बीच की दूरी लगातार बढ़ती जा रही है। आज़ादी के बाद से ही देश के नये सत्ताधारियों ने विकास का जो रास्ता चुना था, उस पर चलते हुए इसी दिशा में समाज आगे बढ़ रहा था। लेकिन पिछले तीन दशकों से जारी निजीकरण और उदारीकरण की नीतियों ने इस रफ़्तार को बहुत तेज़ कर दिया है। देश के सारे संसाधन मुट्ठीभर लोगों के हाथों में सिमटते जा रहे हैं। इस दौर में देश में दौलत के पैदा होने की रफ़्तार बहुत तेज़ रही है। बहुराष्ट्रीय वित्तीय सेवाएँ कम्पनी, क्रेडिट सुइस ग्लोबल के अनुसार, वर्ष 2000 से, भारत में मौजूद सम्पदा के कुल मूल्य में हर साल 9.9 प्रतिशत की दर से बढ़ोत्तरी हो रही है, जबकि दुनिया के पैमाने पर यह औसतन सिर्फ़ 6 प्रतिशत रहा है। लेकिन जिन लोगों की मेहनत के बल पर यह सम्पदा पैदा हो रही है, वे इससे पूरी तरह वंचित हैं।

समाचार एजेंसी ए.एन.आई. की एक रिपोर्ट के अनुसार देश में सार्वजनिक संसाधनों के वितरण में असमानता बहुत बढ़ गयी है और आबादी का लगभग एक-तिहाई हिस्सा अब भी ग़रीबी रेखा के नीचे जीता है। हालत यह है कि 2017 के वैश्विक भूख सूचकांक में भारत खिसक कर 100वें पर पहुँच गया है (2016 में हम 97वें स्थान पर थे)। बंगलादेश, श्रीलंका, म्यांमार और कई अफ़्रीकी देश भी इस मामले में भारत से बेहतर स्थिति में हैं।

'ऑक्सफ़ेम' की रिपोर्ट 'बढ़ता अंतर: भारत असमानता रिपोर्ट 2018' के मुताबिक, दुनिया के पैमाने पर सिर्फ़ एक प्रतिशत लोगों के हाथों में दुनिया की कुल दौलत का 50 प्रतिशत है। भारत में एक प्रतिशत लोगों के हाथों में देश की 58 प्रतिशत सम्पत्ति है (कुछ रिपोर्टों के अनुसार यह और भी ज़्यादा है), और केवल 57 अरबपतियों के पास इतनी दौलत है जो देश की 70 प्रतिशत आबादी की कुल सम्पत्ति के बराबर है।

भारत आबादी के लिहाज़ से दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा देश है। देश की 65 प्रतिशत आबादी की औसत उम्र 35 साल से कम है। किसी भी समाज के लिए इतनी बड़ी युवा आबादी एक बहुत बड़ी ताक़त होती। लेकिन भारत में इस आबादी का बड़ा हिस्सा बेरोज़गार है। आर्थिक सहकार और विकास संगठन के आँकड़ों के अनुसार, देश में रोज़गार से वंचित युवाओं की संख्या बहुत अधिक है जिसके कारण समाज में असन्तोष बढ़ रहा है।

इसी तरह, देश की कुल कामगार आबादी में स्त्रियों की भागीदारी अभी केवल 27 प्रतिशत है। (कामगार आबादी में घरेलू काम और देखभाल जैसे कामों को नहीं जोड़ा जाता जिनके लिए कोई भुगतान नहीं होता।) विश्व बैंक के अनुमान बताते हैं कि 2004-05 से लेकर 2011-12 के बीच 19.6 प्रतिशत स्त्रियाँ कामगार आबादी से बाहर निकल गयीं, जोकि बहुत बड़ी संख्या है। हालाँकि, ये आँकड़े पूरी तस्वीर नहीं बताते क्योंकि स्त्रियों की एक अच्छी-खासी आबादी घरों पर रहकर बेहद काम दामों पर पीसरेट आदि पर किये जाने वाले कामों से जुड़ी है जो अक्सर ऐसी गणनाओं से बाहर ही रह जाती है। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष का अनुमान है कि अगर भारत में कामगार स्त्रियों की संख्या पुरुषों के बराबर हो जाये तो देश के सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) में 27 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हो जायेगी। ऐसे हवाई अनुमानों पर हँसा ही जा सकता है क्योंकि जब पहले से मौजूद कामगार आबादी के ही बड़े हिस्से को काम नहीं मिल रहा है तो स्त्रियों की इस विशाल आबादी के लिए रोज़गार कहाँ से आयेगा। लेकिन सरकार और देशी-विदेशी पूँजीपतियों की संस्थाएँ औरतों को काम में लगाने के लिए तरह-तरह की योजनाएँ इसलिए बना रही हैं क्योंकि उनसे कम मज़दूरी पर ज़्यादा काम कराये जा सकते हैं। वे यह भी सोचते हैं कि स्त्रियों को ग़ुलाम बनाकर रहना भी ज़्यादा आसान होगा।

पिछले कुछ सालों से स्किल इंडिया, मेक इन इंडिया, प्रधानमंत्री रोज़गार सृजन कार्यक्रम, प्रधानमंत्री रोज़गार प्रोत्साहन योजना, प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना जैसी तरह-तरह की योजनाएँ बनायी गयी हैं, लेकिन इन योजनाओं के दफ़्तर और प्रचार सँभालने वाले लोगों को रोज़गार देने के अलावा देश में बेरोज़गारी कम करने की दिशा में इससे कोई प्रगति नहीं हुई है। ज़्यादातर योजनाएँ तो चुनावी घोषणाओं की तरह बिना किसी तैयारी के शुरू कर दी गयी हैं। उद्योगों की ज़रूरतों और युवाओं को सिखाए जा रहे कौशलों में कोई तालमेल ही नहीं है और अधिकांश मामलों में दी जा रही ट्रेनिंग इतनी घटिया है कि उससे कोई रोज़गार नहीं मिल सकता।

वैश्विक मन्दी, नोटबन्दी और जीएसटी की मार

जिन उद्योगों में सबसे अधिक रोज़गार मिलता था, उनकी हालत पतली है। 'लाइव मिंट' अखबार के अनुसार न केवल इन कम्पनियों के निर्यात की हालत खस्ता है बल्कि औद्योगिक उत्पादन के आँकड़े भी बताते हैं कि इन सेक्टरों में वृद्धि बहुत सुस्त है। इतना ही नहीं, श्रम-सघन उत्पादों का आयात बढ़ रहा है। इन सबके चलते रोज़गार की हालत और भी बदतर होने वाली है।

भारत के श्रम-सघन उद्योगों, जैसे टेक्सटाइल, आभूषण और हीरे-जवाहरात, चमड़ा आदि का निर्यात घट रहा है। पिछले साल जुलाई में जीएसटी लागू होने के बाद से इसमें गिरावट तेज़ी से जारी है। इससे पहले नोटबन्दी के दौरान सूरत के आभूषण उद्योग से हज़ारों मज़दूरों सहित देश में लाखों मज़दूरों का काम छूट गया था जिनमें से बहुत से अब भी खाली बैठे हैं। चमड़ा, टेक्सटाइल, हस्तशिल्प, खेलकूद के सामान, फर्नीचर और मैन्युफैक्चरिंग के अन्य सामानों के औद्योगिक उत्पादन सूचकांक में पिछले वर्ष अप्रैल से तेज़ी से गिरावट आयी है। जिन सेक्टरों में श्रम-सघनता कम है, यानी जहाँ रोज़गार भी कम पैदा होता है, वे अब थोड़ा उबरे हैं।

रिपोर्ट कहती है कि नीरव मोदी और मेहुल चौकसी जैसे महारथियों के कारनामों के बाद आभूषण और जवाहरात उद्योग के लिए बैंकों से कर्ज़ मिलने में कठिनाई होगी जिसका भी सीधा असर रोज़गार पर पड़ेगा।

टेक्सटाइल उद्योग में पड़ोसी देशों बंगलादेश और वियतनाम के साथ तीखी प्रतिस्पर्धा है। नेपाल भी अपनी सस्ती श्रमशक्ति टेक्सटाइल कम्पनियों की सेवा में लगाने के लिए तेज़ी से एसईज़ेड आदि बनाने में लगा है। इस कारण इस क्षेत्र में निकट भविष्य में रोज़गार बढ़ने की सम्भावना कम ही लग रही है। भारत से निर्यात होने वाले टेक्सटाइल में सबसे बड़ा हिस्सा धागे, तौलियों और सिले-सिलाए कपड़ों का है। पिछले करीब पूरे साल भारत से धागे का निर्यात घटा है। जून 2017 से संयुक्त अरब अमीरात को होने वाले निर्यात में 45 प्रतिशत की गिरावट के कारण सिले-सिलाए कपड़ों के निर्यात की हालत खराब रही है। ट्रांस-पैसिफिक भागीदारी और यूरोपीय संघ-वियतनाम मुक्त व्यापार समझौते के बाद वियतनाम की इस बाज़ार में हिस्सेदारी और बढ़ेगी जिसका सीधा असर भारत पर पड़ेगा। भारत के निर्यातों के एक बड़े खरीदार अमेरिका में बढ़ते संरक्षणवाद के कारण भी भारत के निर्यातकों की मायूसी बढ़ सकती है। मोदी भक्त चाहे जितनी डोनाल्ड ट्रम्प की भक्ति कर लें, सच यही है कि ट्रम्प संकट से जूझती अमेरिकी अर्थव्यवस्था का हित देखेगा न कि भारत के पूँजीपतियों का।

कुल मिलाकर सबसे ज़्यादा रोज़गार देने वाले सेक्टरों की हालत में सुधार जल्दी होता नहीं दिख रहा है। निर्माण उद्योग भी ऐसी ही हालत से गुज़र रहा है। देशभर में लाखों फ्लैट खाली पड़े हैं और निर्माण गतिविधियों में भारी सुस्ती बनी हुई है। रिपोर्ट के अनुसार उत्पाद और निर्यात में कमज़ोरी का असर समग्र उपभोग पर भी पड़ेगा जिसके असर से सेवा उद्योग में भी सुस्ती आ सकती है। ग्रामीण अर्थव्यस्था पर इसके नतीजे दिखने भी शुरू हो गये हैं।

देश पर राज कर रहे जुमला-नरेशों की बातों पर मत जाइये। कौवा कान ले गया की तर्ज़ पर कोई किसी के ख़िलाफ़ आपको भड़का दे तो आँखों पर पट्टी बाँधकर आग में कूदने मत लगिये। देश-समाज और अपनी ज़िन्दगी की असली तस्वीर को पहचानिये और असली सवालों पर लड़ने की तैयारी करिये। वरना कल तक बचाने के लिए कुछ बचेगा ही नहीं!

पूँजीवाद – दो कार्टून

21वीं सदी
19वीं + 20वीं

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक: सुखविन्दर, अभिनव ● सम्पाकीय पता: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006